मार्क्स का दर्शन

लेखक

भूपेन्द्रनाथ सान्याल

रचयिता

Joys & Sorrows Behind Prison Bars,

साम्यवाद और भारत समाजवाद की ओर

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम संस्करण] १९४५ [मूल्य २)

भूमिका

दर्शन जीवन का दृष्टिकोण है। जीवन-मार्ग पर चलने के लिए दर्शन का सहारा ज़रूरी है। बिना किसी दर्शन के मनुष्य अन्धों की नाईं राह टटोलता चलता और ठोकरें खाता रहता है। सच तो यह है कि हर एक मनुष्य का अपना दर्शन होता है। यदि यह दर्शन ठीक और उपयुक्त नहीं तो भूल दिशा को ले जानेवाला होता है। इसलिए मार्क्स ने दर्शन-शास्त्र पर समुचित ज़ोर दिया है। मार्क्स का दर्शन सर्वसाधारण के लिए है। विशेषकर, मज़दूर तथा अन्य शोषित वर्गों के लिए। पूंजी-वादी समाज में क्रान्ति तथा मज़दूर-जीवन के ध्येय को रूप देने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण साधन है। प्रत्येक दर्शन युगधारा का परिचायक है। युग के संघर्षों ही में उसका जन्म है। दर्शनकार श्रेणी स्वार्थ की वार्ता का प्रचार करता है। दर्शनकार के दर्शन का उसके जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अफ़लातून मैसिडोनिया के राजघराने का शिक्षक था और इस सम्बन्ध की पूरी छाप उसके दर्शन पर पडी है। हेरा क्लिटस परिवर्तन के प्रवर्तक इसलिए थे कि उनकी श्रेणी को दबाकर एक दूसरी श्रेणी प्रभुता कर रही थी और इसमें परिवर्तन लाना आवश्यक था। हेलवू-शियस आदि फ़ांसीसी दार्शनिक मध्यम श्रेणी (आज के पूंजीवादी) के प्रतिनिधि थे और मार्क्स थे उठती हुई मज़दूर श्रेणी के प्रतिनिधि।

मार्क्स के दर्शन-ग्रन्थों का प्रणयनकाल योरोप में एक भीषण हलचल का काल था। १८३० ई० में फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति हुई और फिर १८४८ ई० में विप्लव की लहरों से इटली, फ़्रांस, जर्मनी और आस्ट्रिया सभी आन्दोलित हो उठे। १८७१ ई० में प्रथम मज़दूर राष्ट्र क़ायम हुआ जो इतिहास में पेरिस कम्यून के नाम से प्रसिद्ध है। मार्क्स का जीवन भी एक क्रान्तिकारी का जीवन है। यही कारण है कि उनका दर्शन क्रान्ति

से ओत-प्रोत है। समकालीन दार्शनिकों का मार्क्स ने घोर विरोध किया और मज़दूर श्रेणी के स्वार्थ की अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के द्वारा पुष्टि की।

मार्क्स का दर्शन आसमान से नहीं टपका; यह स्थान और काल की उपज तो है ही; इसकी एक वंशपरम्परा भी है। पाश्चात्य दर्शन के साधारण ज्ञान बिना मार्क्सीयि दर्शन का पूरा परिचय नहीं मिल सकता। अतएव पहले अध्याय में उस आधार का ही वर्णन है। इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी दर्शन हेगेल के दर्शन और १८वीं शताब्दी के भौतिकवाद के संयोग का फल है। इसलिए दूसरे अध्याय में फ़ांसीसी भौतिकवाद का विवरण है।

हेगेल का दर्शन और फ़ांसीसी भौतिकवाद के बीच की सेतु है फ़ॅयेरबाख। मार्क्स का दर्शन एक प्रकार से फ़ॅयेरबाख की आलोचना समर्थन तथा विरोध—की नींव पर खड़ा है। फ़ॅयेरबाख भौतिकवाद के रास्ते चलकर कुछ दूर आगे रुक जाता है। उसने अपना संकोच इन शब्दों में प्रकट किया है, "इस सीमा तक मै भौतिक्कवादियों से पूर्ण सहमत हूँ, इससे आगे मेरा उनका मेल नहीं।" निम्न उद्धरण से इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है—"जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मै विचार (आदर्श) को भी मानता हूँ, लेकिन केवल मनुष्य-जाति, राजनीति तथा आचार-नीति के क्षेत्रों में; प्रकृति तथा शरीर-शास्त्र के क्षेत्र मे नहीं।" इस पर एंगेल्स की टिप्पणी है—"राजनीति तथा आचार नीति का विचार आया कहाँ से?" फ़ॅयेरबाख की भौतिकवादी विचारधारा ने मार्क्स के दर्शन पर काफ़ी प्रभाव डाला। हेगेल के अनुसार विचार (आदर्श) ही सब कुछ है। स्थूल और बाह्य जगत् का वही श्रष्टा है। मार्क्स के अनुसार स्थूल बाह्यजगत् सत्य है और विचार उसका प्रतिबिम्ब। यह विचार असल में फ़ॅयेरबाख की ही देन है। इस विचार को पुष्ट करते हुए फॅयेरबाख ने हेगेल की तर्क-शैली का पूर्ण परिहार कर दिया। मार्क्स ने इस तर्क शैली को पूरी तरह अपनाया लेकिन इसके सहारे वह हेगेल

के विपरीत सिद्धान्तों पर पहुँचे। तीसरे अध्याय में फ़ैयेरबाख और मार्क्स का सम्बन्ध दिखाया गया है।

अन्तिम अध्याय में दर्शन पर मार्क्स के मूल सिद्धान्त हैं जिनको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से पुकारा जाता है।

पाश्चात्य और भारतीय दार्शनिक विचार धाराओं में थोड़ा बहुत अन्तर होते हुए भी उनमें एक मौलिक सादृश्य है। इस कारण तथा पुस्तक का कलेवर बढ़ने के भय से मार्क्सीय तथा भारतीय दर्शनों की विशद् तुलनात्मक आलोचना नहीं की गई। यदि अवसर मिला तो सम्भव है कि भविष्य में पाठकों के सम्मुख एक बृहत्तर ग्रन्थ उपस्थित कर सकूँ।

लेखक

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

पृष्ठ भूमि

पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

दर्शन की उत्पत्ति मानव की जिज्ञासावृत्ति का परिणाम है। 'यह दुनिया कहाँ से आई', 'मैं कहाँ से आया', 'मेरे विचार कैसे पैदा होते हैं' इन्हीं सब प्रश्नों के उत्तरों की खोज से ही दर्शन शास्त्र की रचना होती है। ग्रीक दार्शनिक पीथागोरस के अनुसार दर्शन की परिभाषा है प्रकृति का अध्ययन, मनन और ज्ञान। प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में अन्तर्निहित ऐक्य को जानना ही दर्शन का काम है।

सभ्य समाज की स्थापना के पहले, प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य सोचता था कि प्राकृतिक व्यापारों के पीछे कोई रहस्यमयी शक्ति है। यह शक्ति मनुष्य जैसी ही है। मेघ बिजली आदि का कारण यह शक्ति ही है। लेकिन धीरे धीरे प्रकृति के अन्दर से ही प्राकृतिक व्यापारों के कारणों की खोज होने लगी। पहले कारण से धार्मिक भावना की सृष्टि होती है और दूसरे कारण से दर्शन की।

दर्शन-शास्त्र की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह मूल पदार्थ क्या है जिससे विश्व की सब चीज़ें बनी हैं। आज भी इसका समाधान पूर्ण-रूप से नहीं हो सका।

प्राचीन यूनानी दार्शनिक

थेल्स्, ऐनाक्सीमेनीज, ऐनाक्सी मैंडर—योरप में दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति सर्वप्रथम यूनान में ही हुई और यूनानी दार्शनिक थेल्स् (ई० पू० ६४० से ५५०) ने ही सर्वप्रथम सृष्टि की रचना पर प्रकाश डाला।

उमके कथनानुसार जल से विश्व की सृष्टि हुई। ऐनाक्सीमेनीज़ (ई० पू० ५९० से ५२५) ने कहा कि मूल तत्त्व वायु है। ऐनाक्सी मैंडर (ई० पू० ६१० से ५४५) की खोज अधिक गहराई तक जाती है। उसने कहा कि जिन चीज़ों को हम जानते हैं, उनमें से कोई भी वह मूल पदार्थ नहीं है जिससे विश्व की सृष्टि हुई है। जिस मूल पदार्थ से भूमि, जल, वायु, आकाश आदि पंचत व की उत्पत्ति होती है उसका उसने 'असीम' नाम दिया। उसके मतानुसार जिन क्रियाओं के आधार पर मूल पदार्थ रूपान्तरित होकर यावतीय वस्तुओं में परिणत होता है वे हैं घनीकरण और विरलीकरण।

पीथागोरस—पीथागोरस (ई० पू० ५७० से ५००) ने इस मूल पदार्थ को और सूक्ष्म रूप में दिखाया। पीथागोरसपँथियों ने वस्तु से ज़्यादा उसके रूप पर ज़ोर दिया और कहा कि वास्तविकता पदार्थ नहीं रूप ही है। रूप का एक प्रकार अनुपात है। संगीत-विद्या के अध्ययन से उन्होंने अनुपात के महत्त्व का अनुभव किया (जैसे तार की लम्बाई और सरगम आदि स्वरों का सम्बन्ध)। इस अनुपात का प्रयोग उन्होंने हर दिशा मे किया। उदाहरण के लिए उन्होंने यह कहा कि विभिन्न प्राथमिक गुण जैसे पित्त, कफ, वायु आदि के उचित अनुपात से शरीर का स्वास्थ्य बना रहता है और इस अनुपात के कम ज़्यादा होने पर तरह तरह की बीमारियाँ पैदा हो जाती है। इस प्रकार वे इस नतीजे पर पहुँचे कि वस्तुओं का रूप ही मूल तत्त्व है। दूसरे शब्दों में उन्होंने कहा कि सख्या के द्वारा सब वस्तुओं के रूप का विवरण दिया जा सकता है। इसको अच्छी तरह समझने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि उन दिनों विन्दुओं की विभिन्न सजावट से संख्यायें लिखी जाती थीं। जैसा कि आज भी आप ताश के पत्तों में देख सकते हैं। यों भी विन्दुओं के समावेश से रेखायें बनती हैं और रेखाओं से पृष्ठ सतह और पृष्ठ सतह से स्थूल रूप। इस प्रकार स्थूल रूप को संख्या में दिखाया जा सकता है।

इलिया के दार्शनिक: पारमेनीडीज़, ज़ेनो—यूनान पर ईरानियों का क़ब्ज़ा होने के बाद वहाँ के दार्शनिकों ने भागकर इटली के दक्षिण इलिया नामक स्थान में अपना अड्डा जमाया। पीथागोरसपंथियों ने यहीं से अपने दर्शन का प्रचार किया। इलिया के दार्शनिकों में दो मुख्य थे—पारमेनीडीज़ तथा ज़ेनो। पारमेनीडीज़ का कहना था कि वस्तु न तो शून्य से पैदा होती है और न वह शून्य में विलीन होती है। इसलिए विश्व कभी पैदा नहीं किया गया और न उसका कभी अन्त ही होगा। ज़ेनो और पारमेनीडीज़ ने गति को भ्रमात्मक बताया। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है तीर की गति। गति के मार्ग में तीर स्थान-विशेष पर है भी और नहीं भी है। है इसलिए कि वह स्थान-विशेष पर होकर गुज़रता है और नहीं है इसलिए कि क्षण भर भी वह कहीं ठहर नहीं सकता। अर्थात् या तो तीर स्थान-विशेष पर गतिहीन है या वहाँ से होकर वह गुज़रता नहीं। उन्होंने परिणाम यह निकाला कि गति मिथ्या है।

हेराक्लिटस्—इलिया के दार्शनिकों के विरुद्ध हेराक्लिटस् ने अपने मत का प्रचार किया। यद्यपि उसने उनकी इस बात को मान लिया कि वस्तु का अस्तित्व अनन्त काल से है उसने वस्तुओं के अनेकत्व और उनके अविराम परिवर्तन पर ज़ोर दिया। उसकी ऐसी धारणा थी कि सृष्टि-क्रिया का आवर्तन चक्रस्वरूप है। प्रत्येक चक्र अग्नि से आरम्भ होता है और अग्नि पर ही उसका अन्त होता है। उसका सबसे महत्त्व-पूर्ण विचार यह है कि प्राकृतिक घटनाओं की एक धारा है और यह एक 'सार्वभौमिक बुद्धि' के अस्तित्व को साबित करता है। यह 'सार्वभौमिक बुद्धि' या तो मूल पदार्थ के अन्दर है या इससे पृथक् परन्तु इसके साथ ही साथ है।

अनाक्सागोरास और एम्पीडोक्लीज़—इस बहुवाद को अनाक्सा-गोरास (ई० पू० ५००–४८८) और एम्पीडोक्लीज़ (ई० पू० ४६०–३७०) ने और आगे बढ़ाय और इन्हीं की बुनियाद पर डोमोक्रीटस्

ने परमाणुवाद की सृष्टि की। अनाक्सागोरास का कहना था कि एक ही मूल पदार्थ से सब वस्तुओं की उत्पत्ति नहीं हुई। बल्कि वस्तुओं के विभिन्न बीज हैं जिनके संयोग से सब पदार्थ बनते हैं। इन विभिन्न बीजों की जगह एम्पीडोक्लीज़ ने चार मूल पदार्थों को दी, अर्थात् भूमि, जल, वायु और अग्नि। इन चार मूल पदार्थों के संयोग और वियोग का कारण उसने बताया—आकर्षण और विकर्षण।

डीमोक्रीट ।—डीमोक्रीटस् (ई० पू० ४६०–३७०) के परमाणुवाद के मुख्य सिद्धान्त ये हैं:—

(१) शून्य से कुछ पैदा नहीं होता; जो है उसका विनाश नही होता।

(२) सब परिवर्तन अणुओं का संयोग और वियोग है।

(३) अचानक कोई बात नहीं होती; हर घटना का कार्यकारण सम्बन्ध है।

(४) अणु तथा शून्य स्थान के अलावा और कोई चीज़ नहीं है।

(५) अणु असंख्य हैं और इनके रूप अनन्त हैं। ये निःसीम स्थान में अनन्तकाल से गिरते रहते हैं; बड़े अणु छोटे अणुओं से टकराते और टूटते रहते हैं। इस अणु-संघर्ष से पार्श्व तथा भँवर गति की सृष्टि होती रहती है। इस प्रकार विश्व की रचना होती है और असंख्य जगतों का निर्माण और विनाश होता रहता है।

(६) अणुओं की कोई विशेष आन्तरिक गति नहीं होती। दबाव और संघर्ष उनकी आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया का कारण है।

(७) सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु सारे शरीर में व्याप्त हैं। इनसे जीवन-क्रिया की उत्पत्ति और आत्मा की सृष्टि होती है।

परमाणुवाद ने विश्व के रहस्य की यान्त्रिक व्याख्या की, अर्थात् विश्व का यन्त्र किस प्रकार चलता है इसका भेद बताया।

सोफ़िस्ट—लगभग इसी समय यूनान में सोफ़िस्ट दल का आविर्भाव हुआ। उन्होंने ज्ञान के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया। उन्होंने इस

पर ज़ोर दिया कि जिन शब्दों का हम प्रतिदिन व्यवहार करते हैं उनकी ठीक परिभाषा होनी चाहिए। किसी वस्तु की प्रतीति और उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध के प्रश्न की चर्चा का आरम्भ लगभग इसी काल से हुई और यह वाद-विवाद आज दिन भी जारी है। सोफ़िस्टों का कहना था कि इन्द्रियों के द्वारा ही वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और इन्द्रियों का अनुभव ही सब कुछ है। आवश्यकीय नहीं कि प्रत्येक स्थान और समय के लिए एक सत्य हो। जो एक स्थान के लिए सत्य है वह दूसरे स्थान के लिए असत्य भी हो सकता है। जो एक काल के लिए सत्य है, सम्भव है कि वह दूसरे काल के लिए सत्य न हो। उनका प्रसिद्ध प्रवचन है "मनुष्य ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है। मनुष्य के अनुभव के ऊपर ही किसी वस्तु का सत्यासत्य अथवा लाभप्रद वा हानिकर होना निर्भर है। इसका एक नतीजा यह भी हुआ कि अनुभूति ने अनुभूत पदार्थ को पीछे ढकेल दिया और मनुष्य के अनुभव को ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

शंकावादी—धार्मिक प्रचार ने दर्शन के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा अटकाया। इस प्रचार का मुख्य सिद्धान्त यही है कि मनुष्य की बुद्धि सीमित है और वह सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए असमर्थ है। मनुष्य के भाग्य में चिरांधकार लिखा है। प्रकृति सदा उसके लिए रहस्यमयी बनी रहेगी। शंकावादियों ने इस तर्क का विरोध किया। किसी भी अनुशासन की सर्वमान्यता को उन्होंने अस्वीकार किया। लेकिन इस अस्वीकार-वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि किसी भी वस्तु के ज्ञान की स्थिरता नहीं रही।

सुक़रात—इस समय सारा यूनान सुक़रात के दर्शन से प्रभावित हो रहा था। एक अंश तक सुक़रात और सोफ़िस्टों का मतैक्य था। सोफ़िस्टों की भाँति उसने भी शिक्षा के प्रचार की चेष्टा की। नैतिक प्रश्नों में उसकी विशेष रुचि थी। इसके अतिरिक्त वह प्रचलित विश्वासों को तर्क की कसौटी पर कसता था। उसका विश्वास था कि सही रास्ते

पर चलने से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। उसके मतानुसार यह ज्ञान व्यक्तिगत राय से भिन्न है। दृष्ट घटनाओं के कार्यकारण सम्बन्ध के द्वारा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। कारणों द्वारा ही कार्य निर्धारित किया जा सकता है। अभिप्राय यह था कि व्यवहार में उदाहरणों से सिद्धान्त की पुष्टि की जाय ताकि दृष्ट घटनाओं के आधार पर सिद्धान्त क़ायम हो। ज्ञान को उसने मनुष्योचित गुणों में प्रधान स्थान दिया अर्थात् जो उचित है उसके ज्ञान को सबसे बड़ा गुण बताया। सुक़रात ने इस विचार को जन्म दिया कि व्यापक विचार अथवा धारणा द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

शंकावादियों का कहना था कि कोई भी ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है। सुक़रात ने यह उत्तर दिया कि देवता यह नहीं चाहते कि कोई उनके रहस्य को जाने। सुक़रात ने अपने दर्शन को नीतिविषयक प्रश्नों तक सीमित रक्खा। उसने वैज्ञानिक खोज की जगह आध्यात्मिक कल्पनाओं को अधिक प्रोत्साहन दिया। सोफ़िस्टों के विरोध में उसने कहा कि मनुष्य अपने बाहर से ज्ञान संचय नहीं करता, सत्य उसके अन्दर ही है। उसने यह भी कहा कि सब मनुष्य न्यायवान् हो सकते हैं, क्योंकि न्याय का निवास उनकी अन्तरानुभूति में है। वे सदाचारी और बुद्धिमान हो सकते हैं क्योंकि यह गुण उनके स्वभाव में है। इस आत्मनिर्भर ज्ञान का यह परिणाम हुआ कि न्याय, अच्छाई और गुण की विभिन्न धारणाओं को पृथक् वस्तुओं का रूप दे दिया गया और सच्चाई का यह पैमाना सदा के लिए अचल अटल बन गया।

सत्य सदा के लिए एकसाँ है, ज्ञान का पैमाना बँधा हुआ है और उसका निवास मनुष्य की अन्तरानुभूति में है, इस बुनियाद पर सुक़रात ने उस ज्योति की व्याख्या की जिससे जीवन का मार्ग आलोकमय हो सकता है। मनुष्य का मस्तिष्क अवैज्ञानिक और असंलग्न विचारों से भरा पड़ा है। सुक़रात ने विचारों की इन झाड़ियों को साफ़ कर उनकी जगह "वैज्ञानिक विचारों" अर्थात् अचल सत्यों का बीज बोया। इसी

से मनुष्य में नैसर्गिक ज्योति का प्रकाश हो सकता है। वैज्ञानिक विचार और सत्य ज्ञान शब्दों की परिभाषा पर निर्भर है। परिभाषा व्यापक शब्दों की रूप-रेखा का वर्णन है। न्याय क्या है? गुण क्या है? क़ानून क्या है? सोफ़िस्टों द्वारा उठाये हुए इन प्रश्नों के उत्तर की खोज के लिए सुक़रात ने इसी परिभाषा के यन्त्र का प्रयोग किया। उसने भौतिक और सृष्टिविषयक कल्पनाओं के स्थान पर मानसिक कल्पनाओं को प्रतिष्ठित किया। दार्शनिक खोज के मुख्य विषय रहे हैं व्यापक और अमूर्त शब्द और उनके अर्थ न कि प्रकृति और उसके उपादान, यह सुक़रात का देन है। सुक़रात-पूर्व दर्शन का प्रयत्न था अपनी युवावस्था के अनुरूप प्राकृतिक घटनाओं का सर्वोत्तम व्याख्या करना। सुक़रात ने इन प्रयत्नों को व्यर्थ बताया। उसका कहना था कि विज्ञान सिखाया नहीं जा सकता अर्थात् ज्ञान अनुभव से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान मनुष्य के अन्दर ही है। आवश्यकता उसकी अनुभूति की है। बाहरी वस्तुओं के ज्ञान की मनुष्य को आवश्यकता नहीं है। अपने अन्तर्निहित ज्ञान को ही विकसित करना आवश्यक है।

अफ़लातून—अफ़लातून सुक़रात का प्रधान शिष्य था। वह विश्व-विख्यात दार्शनिक हो गया है। उसके समय से लोग इस अपूर्ण दुनिया से मुख मोड़कर अनन्त सत्य के ध्यान में निमग्न रहने लगे। उन्हीं के प्रभाव के कारण यूनानी वास्तविकता के विवरणों की ओर ध्यान न देकर अमूर्त और व्यापक सत्य और सिद्धान्तों की खोज में लगे रहे। इन्द्रियों के अनुभव और प्रयोग द्वारा नहीं बल्कि केवल विचार शक्ति द्वारा वे इनकी खोज करते रहे। इस रास्ते से वे जिस नतीजे पर पहुँचे वह दर्शन-शास्त्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। यह मानकर कि सत्य वही है जो विरोधाभास से मुक्त है, वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि गति या परिवर्तन की व्याख्या नहीं की जा सकती। वे हमेशा विरोधपूर्ण हैं और इसलिए असत्य हैं। जो अपरिवर्तनीय है वही विरोधमुक्त है। सत्य नित्य है। परिवर्तन भ्रम है।

गति या परिवर्तन क्यों विरोधपूर्ण है, इसको समझने के लिए तीर की गति का उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है। दार्शनिक ज़ेनो जिसने यह उदाहरण दिया था उसने गति को भ्रमपूर्ण बताया और स्थिरता को स्वीकार किया, क्योंकि स्थिरता बुद्धिग्राह्य थी। इसलिए आज हम जिसको परिवर्तन या विकास कहते हैं वह यूनानवासियों के लिए अलीकमात्र था। इस तरह इस परम्परा की सृष्टि हुई कि इन्द्रियों से सम्बन्धित जीवन वास्तव जीवन नहीं है बल्कि माया है, यहाँ तक कि दोषपूर्ण है। जो वास्तव है वह अविकृत और अनन्त है और बुद्धि ही उसको ग्रहण कर सकती है। अथवा आत्मा की किसी रहस्यमयी शक्ति को ईश्वर की महिमा से इस वास्तव की अनुभूति होती है। इस प्रकार बुद्धि को प्रधानता दी गई और प्रकृति को समझने के लिए अनुभव तथा प्रयोग-मार्ग की उपेक्षा की गई।

लेकिन यूनान की विचारधारा का एक और पहलू भी है। बुद्धि और बुद्धि द्वारा आविष्कार किये जानेवाले सत्य के प्रति गम्भीर श्रद्धा ने ज्ञान के उस रास्ते को खोल दिया जिसको तर्क-सिद्धि का मार्ग कह सकते हैं। यदि कुछ सार्वभौमिक सिद्धान्त सच हैं तो उनसे कुछ विशिष्ट बातें सिद्ध की जा सकती हैं और जिनका सच होना भी आवश्यक है। युक्लिड का रेखागणित इस तर्क सिद्धि का सर्वोत्तम उदाहरण है। कुछ स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों पर इसकी बुनियाद है। जिनको मान लेने से सभी ऐसे प्रतिपाद्यों की सिद्धि हो जाती है जैसे 'समद्विबाहु त्रिभुज के आधार के दोनों कोण समान होते हैं।' अनुभव से अलग रहकर, विशुद्ध विचार द्वारा ही जब हम इन अनुमानों और प्राथमिक सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं तब हमारा सारा दृष्टिकोण ग़लत हो जाता है। लेकिन दो मानों में यह विशेष रूप से सत्य है और इससे वह रास्ता बन गया जिस दिशा में वैज्ञानिक विचारधारा का विकास होने को था। पहली बात यह कि अफ़लातून का विश्वास था कि भौतिक वस्तुओं के देखने की आवश्यकता इसलिए है कि उस आदर्श सत्य का ख़याल हो सके जो इन वस्तुओं में

आंशिक रूप से मूर्त होता है। दूसरे वे अनुमान और व्यापक सत्य हैं जिनको आजकल हम वैज्ञानिक नियम के नाम से पुकारते हैं। क्योंकि नियम केवल दृष्ट घटनाओं का जोड़ नहीं। इतनी घटनायें इकट्ठा ही नहीं की जा सकतीं जिससे कोई ध्रुव सत्य पर पहुँच सके। एक सच्चा नियम कुछ घटनाओं को एकत्रित करने के अलावा उनका अर्थ भी बताता है। यूनानी विचारधारा ने मनुष्य को यह सिखलाया कि घटनायें काफ़ी नहीं है, यह असम्पूर्ण और धोखा देनेवाली है। इन घटनाओं के पीछे कुछ गम्भीर सत्य हैं। वैज्ञानिक नियम ही यह सत्य है। वैज्ञानिक नियमानुसार ही उनकी उत्पत्ति होती है और उन्हीं के द्वारा वर्तमान घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। यूनानियों ने यह महान आविष्कार किया कि हम घटनाओं को जान सकते हैं और उन घटनाओं के मूल नियमों को भी जान सकते हैं।

अफ़लातून ने हेराक्लिट्स, पीथागोरस तथा सुक़रात की विचार-धाराओं का समन्वय करना चाहा। सुक़रात की भाँति उसकी यह राय थी कि ज्ञान सम्भव है लेकिन केवल व्यापक विचार, धारणा अथवा सत्य द्वारा। हेराक्लिटस् की भाँति उसकी राय थी कि जिन वस्तुओं को हम देखते हैं वे परिवर्तनशील घटनाओं की बहती हुई धारायें हैं जिनके विषय में कोई सार्वभौमिक सत्य लागू नही होता। उसने यह नतीजा निकाला कि ज्ञान के असली विषय इन्द्रियानुभूत जगत् की बदलती हुई चीजें नहीं हैं। उसके विषय हैं 'धारणाएँ' जो इन्द्रियानुभूति के परे और अपरि-वर्तनीय हैं। पीथागोरस के रूप की तरह उसकी इन्द्रिय जगत् की कल्पना एक निम्न श्रेणी का सत्य है और इस 'धारणा' का अनुकरण-मात्र है या सके आस-पास की कोई चीज है। इस तरह उसने वस्तु और वस्तु-ज्ञान के दो भाग किए,-सत्य ज्ञान, जो 'धारणाओं' से या अनन्त अस्तित्व की दुनिया से सम्बन्धित है और इन्द्रियानुभूति जो एक निम्न श्रेणी का ज्ञान है। शेषोक्त का उसने नामकरण किया मत जिसका सम्बन्ध परि-वर्तनशील जगत् से है। सम्भवतः धारणाओं से अफ़लातून का आशय है

प्रकृति के शाश्वत नियम। इन्द्रियानुभूत वस्तु धारणा का अनुकरण-मात्र है। इस विवरण का मतलब फिर यही है कि साधारण वस्तु और घटनायें प्राकृतिक नियमों का अनुवर्तन सम्पूर्ण तौर पर नहीं बल्कि क़रीब-क़रीब करती हैं। जो कुछ हो विश्व के विषय अफलातून की धारणा यह थी कि यह यन्त्रवत् नहीं चलता — इसकी घटनाओं का एक सम्बन्ध है और एक उद्देश्य की ओर यह घटनायें चलती है। यह उद्देश्य है शुभ। इस शुभ की उपमा अफलातून ने सूर्य से दी है। जिस प्रकार चीज़ों की वृद्धि के मूल में सूर्य है और ये उसी की रोशनी से देखी जा सकती हैं उसी प्रकार शुभ सब सत्यों के मूल में है और इनके ज्ञान का द्वार भी है।

"किसी सत्य का विवरण उसके विषय के अनुरूप होता है। जिनका सम्बन्ध वस्तुतत्त्व और धारणाओं से है वे प्रामाणिक सत्य हैं। जिनका सम्बन्ध इन्द्रियानुभूत जगत् अथवा धारणाओं के अनुकरणों से है उनके सत्य का अनुपात इस सम्बन्ध के ऊपर निर्भर है। इन्द्रिय जगत से सम्बन्ध जितना अधिक है सत्य का अंश उतना कम है; ये अधिक से अधिक सम्भावनायें हो सकती हैं। जो सार्वभौमिक विवरण है वे प्राथमिक सत्य हैं। इनका ज्ञान सहज प्रत्यय द्वारा होता है।" अपनी आत्मा की सूचना सारे ज्ञान का मूल है।

हेराक्लिटस् और पीथागोरस के विचारों का समन्वय अफ़लातून किस प्रकार से करता है? अफ़लातून के रूप क्या है? पहले उन चीज़ों पर विचार कीजिए जिनकी अनुभूति हमको इन्द्रियों द्वारा होती है। अफ़लातून का इशारा बराबर इस बात पर है कि इन्द्रियानुभूत ज्ञान आपेक्षिक और भ्रमपूर्ण है। उसने एक उदाहरण दिया। यदि कोई अपना हाथ पहले बर्फ़ पर रखता है फिर गुनगुने पानी में डालता है, तो वह पानी उसको बहुत गर्म मालूम पड़ेगा। अब मान लीजिए कि बहुत गर्म पानी से हाथ धोकर फिर वह उसी गुनगुने पानी में हाथ डालता है। वह गुनगुना

पानी जो पहले बहुत गर्म मालूम पड़ता था, अब ठंडा मालूम होगा। देखिए, वही पानी गर्म भी है और ठंडा भी। उसका एक दूसरा उदाहरण लीजिए। हाथी चूहे को छोटा जानवर समझेगा, लेकिन चींटी के सामने चूहा बहुत बड़ा जानवर है। इस प्रकार चूहा बड़ा भी है और छोटा भी। यह इस पर निर्भर है कि कौन जानवर उसको देख रहा है। इसी प्रकार सौन्दर्य और नीति के विषय में मनुष्यों की विभिन्न राय हैं। किसी चित्र को एक सुन्दर कहेगा दूसरा असुन्दर। अफलातून की भाषा में किसी भी इन्द्रियानुभूत विषय के विपरीत गुण हो सकते हैं, इसलिए उसका कोई निश्चयात्मक गुण नहीं है। जिस आधार पर यह कहा जा सकता हो कि किसी वस्तु 'क' का गुण 'अ' है, उसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उसका गुण 'उ' है, जहाँ 'उ', 'अ' का विपरीत है। अर्थात् 'क' के दोनों गुण हैं 'अ' तथा 'उ', या इनमें से कोई भी गुण नहीं है बल्कि दोनों के बीच घूमा करता है। इसलिए 'क' का कोई सत्यगुण नहीं है और यह वास्तव नही है। चूँकि 'क' कोई अपरिवर्तनीय गुणसमन्वित निश्चित वस्तु नहीं है इसलिए इसका कोई ज्ञान हमको नहीं हो सकता। इसके विषय में हमारी केवल राय हो सकती है। यही कारण है कि एक ही वस्तु के विषय में हम विपरीत बातें कह सकते हैं। जैसे. किसी चित्र के विषय में दो राये हो सकती हैं। एक मत से वह सुन्दर होगा, दूसरे मतानुसार असुन्दर। दो विपरीत रायों का कारण है कि कोई भी राय सत्य नहीं। लेकिन ज्ञान स्वयं विरोधी नही हो सकता। जो वस्तु नित्य है उसका कोई गुण निश्चित रूप से या तो है या नहीं है। केवल इन्हीं निश्चित गुणों का हमको ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इन्द्रियानुभूत जगत् का हमको कोई ज्ञान नहीं। कारण कि उसका कोई निश्चित गुण नहीं है। लेकिन विज्ञान और गणितादि इस बात का प्रमाण है कि हमको ज्ञान है। यह ज्ञान किस चीज का है? अफ़लातून का उत्तर है कि यह ज्ञान रूपजगत् अथवा धारणाओं का है। इसका आशय समझने के लिए कोई एक धारणा ले लीजिए—

सफ़ेदी। सफ़ेदी और सफ़ेद चीज़ (जैसे चूना) एक नहीं हैं और न सफ़ेदी सब सफ़ेद चीज़ों का योगफल है। फिर यह सफ़ेदी है क्या? उत्तर दिया जा सकता है कि यह मस्तिष्क की एक धारणा या विचार है। लेकिन अफ़लातून का यह उत्तर नहीं। 'गुण मस्तिष्क का विचार है', इस पर अफ़लातून की आपत्ति यह है कि यदि सफ़ेद वस्तु से हम अपना ध्यान हटा लें तो वह सफ़ेद न रह जायगी, अथवा सब मस्तिष्कों के अन्त हो जाने पर सफ़ेदी जैसी कोई चीज़ न रह जायगी। लेकिन सफ़ेद वस्तु के ध्यान से विरत होने पर उस वस्तु के गुण में कोई परिवर्तन नहीं हो जाता; इसलिए सफ़ेदी कोई मानसिक चीज नहीं है। यद्यपि यह वस्तुओं का गुण है, यह स्वयं कोई वस्तु या वस्तुसमूह नहीं है। फिर यह क्या है? अफ़लातून का उत्तर है कि यह न तो मानसिक है न वास्तविक। यह 'रूप', या 'धारणा' है जो अपरिवर्तनीय, पूर्ण, नित्य और वास्तव-जगत् का निवासी है। सभी रूप जिनको हम इंन्द्रियानुभूत विषयों के गुणों में रूपान्तिव देखते हैं या जिनको हम बुद्धि द्वारा ग्रहण करते हैं, वास्तव जगत् के अंग हैं। इंद्रियानुभूत वस्तुओं के जो कुछ गुण दिखलाई पड़ते हैं उनका कारण है 'रूप'। इसी से उनमें सत्य का आभास होता है। इन रूपों के लिए ही यह कहा जा सकता है कि इनके विषय में हमारी 'राय' नहीं है बल्कि 'ज्ञान' है। दर्शन का उद्देश्य 'राय' के राज्य से, जहाँ कि चीज़ें अनित्य और परिवर्तनशील इन्द्रिय जगत् की चीज़ें हैं, आत्मा को ज्ञान के राज्य में ले जाना है, जहाँ आत्मा उन रूपों, जो इंद्रिय जगत् के वस्तुओं के जन्मदाता हैं, के सम्मुख होती है।

इस प्रकार अफ़लातून हेराक्लिटस् और पीथागोरस के मतों का सामञ्जस्य करता है। अफ़लातून इंद्रिय जगत् की अपूर्णता के मुकाबले स्थिर आदर्शों का एक जगत् रखता है जो केवल बुद्धि-ग्राह्य है। जगत् की बिखरी हुई वस्तुओं में एक शृंखला स्थापित करने के प्रयत्न के बजाय वह एक पूर्णता की कल्पना करता है जो पहले ही से विद्यमान है।

इंद्रिय द्वारा ज्ञान सञ्चय की जगह मनन द्वारा ज्ञान सञ्चय पर उसका अधिक ज़ोर है।

अरस्तू -- साधारणतया अरस्तू ने अफ़लातून की अपेक्षा वास्तविकता और अनुभव पर अधिक ज़ोर दिया। दूसरे शब्दों में उसकी इन्द्रिय-जगत् में अधिक श्रद्धा थी, लेकिन उसने वास्तविकता के दूसरे पहलुओं से मुंह नहीं मोड़ा। अफ़लातून के कुछ बुनियादी विचारों से वह सहमत भी था। ज्ञान के लिए व्यापक विचार या धारणाओं का महत्त्व है, इस विषय में अरस्तू, सुक़रात और अफ़लातून एकमत थे। लेकिन उसने इंद्रिय-जगत् से पृथक् अफ़लातून के धारणा-जगत् को मानने से इनकार किया। अनुभव-जगत् को समझने और समझाने के लिए धारणाओं की आवश्यकता को उसने स्वीकार किया। दृष्ट-वस्तु और धारणा, तथा व्यापक और विशिष्ट में उसने सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने कहा कि दोनों के संयोग से ही वास्तव-जगत् और ज्ञान की सृष्टि होती है। अब तक वस्तु और रूप पृथक् थे; उसने अपनी कल्पना में दोनों को संयुक्त किया। यूनान के पिछले युग में केवल वस्तु पर ज़ोर दिया गया था। पीथागोरस और अफ़लातून ने केवल रूप पर ज़ोर दिया। अरस्तू ने इनके परस्पर साहचर्य का प्रचार किया। रूप वस्तु में संश्लिष्ट है, विश्व ब्रह्माण्ड अण्ड में निहित है। इनका प्रभेद किया जा सकता है लेकिन इनको पृथक् नहीं किया जा सकता। अफ़लातून के आदर्शवाद का कारण है विशुद्ध रेखागणित और काल्पनिक आकारों में उसका प्रेम। अरस्तू की विशेष रूप से जीव-विज्ञान में रुचि थी। प्रकृति में विकास और परिवर्धन क्रिया के विकास के अध्ययन के कारण 'अपरिवर्तनीय' धारणा की ओर बढ़ने में वह प्रोत्साहित न हो सका। वास्तव में अरस्तू ने जिस अर्थ में वस्तु और रूप की आख्याओं का प्रयोग किया उसके द्वारा उसने दो विचारधाराओं के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने की कोशिश की। एक विचारधारा इलिया के दार्शनिकों की थी कि परिवर्तन भ्रम-मात्र है और नित्य ही सत्य है। दूसरी हेरा-

क्लटस की थी जिसके अनुसार परिवर्तन ही वास्तव है। अरस्तू दोनों के प्रति न्याय करना चाहता था। उसने हर साधारण वस्तु में वस्तुतत्व और रूप दोनों ही को माना, अर्थात् वस्तुतत्त्व आकारमण्डित होकर एक विशिष्ट रूप ग्रहण करता है। विभिन्न वस्तुओं के लिए वस्तुतत्त्व और रूप भिन्न भिन्न हैं। मूर्ति के लिए संगमर्मर वस्तुतत्त्व है और भास्कर जो कुछ आकार प्रदान करता है वही उसका रूप है। कोई वनस्पति, जानवर, या मनुष्य के लिए शरीर का संगठन वस्तुतत्त्व है और उसके कार्य-कलाप जैसे प.चनक्रिय', इन्द्रियानुभूति, या बोधक्रिया इसके रूप हैं। इसके अलावा बिना रूप की कोई वस्तु नहीं होती। अरस्तू के समय जो प्राथमिक वस्तुएँ मानी जाती थीं, जैसे, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी उनको भी इसने किसी मूल पदार्थ के विभिन्न रूप करके माना। इनकी उत्पत्ति का कारण कुछ आदि गुणों जैसे शुष्क, आर्द्र, शीत और उष्ण इत्यादि का विभिन्न प्रक.र से संयोग है। रूपहीन वस्तु की धारणा कल्पना के एक सीमान्त पर है। जिस वस्तु का विकास हो सकता है, विकास क्रिया के सम्बन्ध में उसको वस्तुतत्त्व कहते हैं। लेकिन पदार्थ की इस प्रकार की कल्पना में भी एक रूप का आभास मिलता है जिससे इसका किसी कम विकसित पदार्थ से प्रभेद किया जा सकता है। इस प्रकार वस्तु और रूप का प्रभेद आपेक्षिक और तुलनात्मक है। लेकिन इस आपेक्षिकता की कुछ सीमाएँ हैं। भौतिक वस्तुओं का रूप चार मूल पदार्थों के रूप से कम नहीं हो सकता। रूप के विकास की भी एक सीमा है। पत्थर का एक टुकड़ा किसी मूर्ति का रूप तो ले सकता है लेकिन वह पौधा नहीं बन सकता। नीम का बीज समय पर नीम का पेड़ तो हो सकता है लेकिन जानवर नहीं बन सकता। इस प्रकार अरस्तू के विचार में जीव और वस्तु का प्रभेद एक स्थायी प्रभेद था। लेकिन उसने वस्तुराज्य की विचित्रता का तुलनात्मक ढंग से अध्ययन किया और यह भी दिखलाया कि इनमें एक श्रेणी तारतम्य है। उसने इसके बहुत से उदाहरण दिखलाए कि ज़ीने की सीढ़ियों जैसा वस्तुओं का सम्बन्ध

है। ज़ीना की एक सीमा पर वह सीढ़ी है जहाँ वस्तु का कोई रूप नहीं। दूसरी सीमा पर वह पूर्णता है जो रूप है परन्तु जिसमें वस्तुतत्त्व नहीं है क्योंकि इससे आगे विकास के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है। यह रूप ईश्वर का है और अरस्तू के मतानुसार अफ़लातून की 'धारणा' का ईश्वर ही एकमात्र उदाहरण है। अरस्तू का ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है, क्योंकि वस्तुतत्त्व और रूप अनन्त काल से है और रूप सदा ही वस्तु मे मूर्त होता आया है। लेकिन किसी प्रकार सब वस्तुएँ ईश्वर की ओर आकर्षित होती हैं। ईश्वर विश्व-कामना का ध्येय है और उसके अस्तित्व-मात्र से वस्तुओं का विकास पूर्णता की ओर होता है। वह विश्व-संसार का गति-दायक है यद्यपि वह स्वयं गति-रहित है और ईश्वर-प्रेम की प्रेरणा से ही पृथ्वी चक्रवत् घूमती रहती है।

अरस्तू के वस्तु और रूपविषयक विचार संक्षेप में यह हैं। हर वस्तु के दो भाग किए जा सकते है, एक तो वस्तु जिससे वह बनती है! दूसरा संगठन का नियम जो वस्तु में प्रदर्शित होता है, जिसके कारण उसके गुणों का अस्तित्व है और दूसरे सम्बन्धित वस्तुओं से उसकी भिन्नता है। पहला वस्तु है, दूसरा रूप। हर वस्तु के यह दो और केवल यही दो अंग होते हैं। जिस अनुपात में वस्तु में रूप की मात्रा अधिक होती है उसी के अनुसार वस्तुओं की श्रेणी में उसका उतना उच्च स्थान है। उदाहरणार्थ आम का वस्तु वृक्ष है और रूप आम। वृक्ष का वस्तु जंगल है और रूप वृक्ष। इसलिए वृक्ष जो आम के लिए वस्तु है वही जंगल के लिए रूप है। इस प्रकार जंगल से वृक्ष आगे की सीढ़ी पर है और आम उससे भी आगे की। अरस्तू का यह कहना नहीं है कि वस्तु से पृथक् रूप का कोई अस्तित्व है। वस्तु जिस प्रकार से संगठित है वही उसका रूप है। वस्तु और रूप के सिद्धान्त से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि वस्तु का किन भागों में विश्लेषण किया जाय।

दूसरा प्रश्न यह है कि जो वस्तु जैसी है वह क्यों ऐसी है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अरस्तू ने जो सिद्धान्त बनाया उसका नाम है सुप्त-

शक्ति और वास्तविकता का सिद्धान्त। दो पौधों के बीजों को ले लीजिए— तीसी और अलसी। इन बीजों का प्रथमावस्था में प्रभेद करना बहुत कठिन है। लेकिन यह तो निश्चय ही है कि एक से तीसी पैद होगी और दूसरे से अलसी। इसका विवरण अरस्तू ने इस ढंग से किया है कि प्रत्येक बीज जो कुछ कि वह भविष्य में होनेवाला है वही वह आज भी है, हाँ, केवल आवरणयुक्त है, अविकसित रूप में है। इस प्रकार हर बढ़ती हुई वस्तु में एक शक्ति होती है जिससे वह अपने विशिष्ट संगठन या रूप को प्राप्त होता है। अरस्तू के शब्दों में जो रूप सुप्त था वह जागरित और वास्तविक बन जाता है। हर वस्तु का उद्देश्य अपने उपयुक्त रूप को प्राप्त करना है। इस प्रकार प्रकृति में हर वर्द्धनशील वस्तु एक उद्देश्य से प्रेरित मालूम पड़ती है। जिस उद्देश्य को वह पूरा करना चाहती है उसी की ओर वह आकर्षित होती है और यही उसके बढ़ने का इतिहास है। इस सिद्धान्त का प्रयोग प्राकृतिक वस्तुओं में ही सीमित नहीं है। जब कोई शिल्पी एक मकान बनाना चाहता है तब हम यह कहते हैं कि मकान उसके नक़्शे में ही अवस्थित (सुप्त) है और उसका निर्माण उसको केवल सुप्तावस्था से वास्तव में परिणत करता है।

वस्तु और रूप तथा सुप्त-शक्ति और वास्तविकता के सिद्धान्तों के संयोग मे अरस्तू इस प्रश्न का उत्तर देता है कि दुनिया में जो कुछ है वह क्यों है और जो कुछ वह दीखता है वह ऐसा क्यों दीखता है। चार कारणों का सिद्धान्त ही यह उत्तर है। अरस्तू ने यह कहा कि यदि तुम यह जानना चाहते हो कि कोई वस्तु जो कुछ है वह किस प्रकार से ऐसा हो गया है तो चार चीजों को ध्यान में रखना चाहिए। पहला है पदार्थ जिससे कि वस्तु बनी होती है जैसे आम की गुठली जिससे आम पैदा होता है। यह भौतिक हेतु है। दूसरा है नियम जिसके अनुसार इसका विकास हुआ है। उस गुठली की प्रवृत्ति आम के पेड़ के रूप में बढ़ने की है और इस प्रवृत्ति से वह मुक्त नहीं हो सकती। और इसके विपरीत वह कटहल का पेड़ नहीं बन सकती। इस प्रवृत्ति या विकास के नियम

को रूप हेतु कहते हैं। तीसरा है कर्त्ता जिसके प्रारम्भिक धक्के से सारी क्रिया होने लग जाती है। दूसरे शब्दों में एक आम का पेड़ होना चाहिए जो उस गुठली को जन्म दे और जिस गुठली को भौतिक हेतु कहा गया है। यहाँ आम का पेड़ कर्त्ता हेतु है: इस हेतु को अरस्तू ने कर्त्तृत्व हेतु का नाम दिया है। अन्तिम कारण है वह वास्तविक रूप. जिसको बीज प्राप्त करने की खोज में था, अर्थात् गुठली के क्षेत्र में आम या चित्रकार के क्षेत्र में सम्पूर्ण चित्र। यह है अन्तिम कारण।

अन्तिम कारण का यूनानी शब्द है टेलेस (Telos)। उन सिद्धान्तों को, जो इस बात पर ज़ोर देते हैं कि कोई वस्तु अपने उद्देश्यों तक पहुँचने के लिए ही विकास का एक विशेष रास्ता चुन लेती है तथा इन उद्देश्यों के प्रभाव से ही उसकी वृद्धि होती है, टेलिओलॅजी का सिद्धांत कहते हैं। अब टेलिओलॅजी के हेतु और यान्त्रिक हेतु का विभेद समझना आवश्यक है। यान्त्रिक हेतु मानो पीछे रह कर आगे होनेवाली बात का फ़ैसला कर देता है। अर्थात् कारणों का यदि ठीक ज्ञान हो तो कार्य सुनिश्चित हो जाता है। यह कारण उसी प्रकार काम करते हैं जैसे मशीन के पुर्ज़े, जो मिल कर मशीन को चालू रखते हैं। टेलिओलॅजी इस बात पर ज़ोर देती है कि इन कारणों के अलावा हमको इसका भी ध्यान रखना होगा कि वह वस्तु स्वयं क्या होने का प्रयत्न कर रही है।

भौतिक विज्ञान ने पहले और तीसरे कारणों को लेकर उन्नति की। लेकिन धार्मिक विचार वालों ने अतिम कारण पर सारा जोर दिया। इस अंतिम कारण के द्वारा ही ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए वे प्रयत्नशील थे। सब जगह जो एक सुकल्पित और सुसंगठित व्यवस्था देखने में आती है वही ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मानी जाती है। लेकिन जीव विज्ञान के क्षेत्र के बाहर अरस्तू इस अन्तिम कारण की खोज नहीं करता था। इस क्षेत्र में तो अब भी लोगों को इस अंतिम कारण से सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता पड़ती है। जो घटनायें दृश्य-जगत् में

घटती हैं, उनका, कल्पना के साथ मिलान करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में अरस्तू के सुनिश्चित विचार थे। एक स्थान पर वह लिखता है कि हमें बुद्धि से इन्द्रियों पर अधिक निर्भर रहना चाहिए और बुद्धि पर तभी निर्भर होना चाहिए जब इसके नतीजों में और दृष्ट घटनाओं में मेल हो।

'धारणा' के वास्तविक अस्तित्व को अस्वीकार कर अरस्तू आदर्शवाद को समूल विनष्ट करता है। उसका मत है कि 'धारणा' का अस्तित्व केवल मनुष्य के मन में है। यह 'धारणा' बुद्धि की उपज है, जो इन्द्रियानुभूत वाह्य घटनाओं के बीच एक व्यापक नियम को ढूंढ़ निकालती है। उसने न केवल अचेतन प्रकृति का ही एक भौतिक मूल माना बल्कि स्वयं इन्द्रियानुभूत चेतना को भी एक उत्पादित वस्तु के रूप में देखा। उसने अचेतन प्रकृति को तो भौतिक माना ही, बल्कि चेतन जीव का मूल भी उसने मूल तत्त्वों को माना। अपनी अन्तर्निहित शक्ति से ही वस्तुतत्त्व जीव-जन्तु तथा वनस्पति का रूप ग्रहण करता है, ऐसा उसका मत था। इस मत की पुष्टि के लिए उसने सड़ी लकड़ी के से कीड़ों की उत्पत्ति का, सड़े गोबर से मक्खियों की सृष्टि का तथा नम ऊन से जूं के होने इत्यादि का उदाहरण दिया।

चेतना और अचेतन प्रकृति का एक ही मूल मान कर आधिदैविक विज्ञान के जन्मदाता ने मन और पदार्थ के अदार्शनिक द्वित्व का परिहार किया, यद्यपि यह द्वित्व ही आधिदैविक विज्ञान की बुनियाद है। अरस्तू समझता था कि प्राकृतिक क्रिया-कलाप की वास्तविकता को माने बिना कोई दर्शन नहीं बन सकता। लेकिन अपने युग की अवस्थाओं में वह वास्तविकता को अनुभव के दायरे में नहीं ला सकता था। व्यष्टियों के सठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इंद्रियों को शिक्षित करने की ज़रूरत है और इसके लिए यंत्रों की आवश्यकता है। इन यंत्रों के अभाव में व्यष्टि से अधिक समष्टि पर ज़ोर दिया गया। यह समष्टि तर्कशास्त्र का बुनियादी तत्त्व माना गया। अरस्तू की दार्शनिक प्रथा जो पहले भाग में वस्तुवाद

के रंग से भरपूर है, आगे चलकर तर्क को एक अयौक्तिक स्थान देती और कुछ दोषपूर्ण हो जाती है।

उसके लिए तर्क मननक्रिया का एक अस्त्रमात्र न था; यह बाहरी वस्तुओं के निरीक्षण का भी एक साधन था। वह समझता था कि वस्तु का अस्तित्व जिस प्रकार है उसी प्रकार उसको अवगत करने से सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। फिर भी उसके लिए अवगत होने का तरीक़ा मूर्त वस्तु का प्रत्यक्ष निरीक्षण न था बल्कि मानसिक क्रिया से ही वह अवगत होना चाहते थे। वस्तु और उनके सम्बन्धों के विषय में अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्ति की सम्भावना के लिए जब तक ज़मीन तैयार नहीं होती तब तक जल्दी बने हुए विचार ही, स्वतन्त्र वस्तु के रूप धारण कर ज्ञानान्वेषण के विषय बन जाते है। इस प्रकार अरस्तू अनुभव का रास्ता छोड़कर मानसिक ध्यान का रास्ता लेता है। "विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान, जिसके द्वारा हम व्यापक सिद्धान्तों पर उपनीत होते हैं, हमको प्राप्त होता है, लेकिन व्यापक सिद्धान्त स्वयं प्रकट हैं," इस ग़लत सिद्धान्त का परिणाम है अरस्तू का सिद्धान्त कि आत्मा ज्ञान की रश्मि के साथ ही जन्म ग्रहण करती है। यह रूढ़ि कांट के समय तक दर्शनशास्त्र के रास्ते में एक रोड़ा बनी रही। आधुनिक जीवविज्ञान ने इसका अन्त कर दिया है। विकासवाद के सिद्धान्त ने यह अकाट्य रूप से प्रमाणित कर दिया है कि संस्कार या अन्तर्बोध इंद्रिय-द्वारा किये गये अनुभव का ही नतीजा है।

अरस्तू का कहना था कि व्यापक धारणा स्वर्गलोक के किसी आदर्श का प्रतिबिम्ब नहीं है। यह एक वास्तविकता है जो विभिन्न वस्तुओं की सम-गुण-सम्पन्नता के रूप में और उन वस्तुओं में ही विद्यमान है। एक श्रेणीभुक्त होने के लिए जिस सम-गुण-सम्पन्नता की आवश्यकता है उसके अतिरिक्त भी कुछ न कुछ गुण हर वस्तु में होता है। सब बिल्लियों मे कुछ समानता है फिर भी बिल्लियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। अपनी अलग-अलग विशिष्टता रखते हुए भी वस्तुओं की एक श्रेणी हो सकती है। जिस विशेष गुण के कारण ऐसा सम्भव है वह एक मोहर जैसा है जो अपनी

छाप इन पर डालता है। यह रूप या छाप विभिन्न वस्तुओं की एक सम-गुणता है; जैसे एक ही साँचे में विभिन्न वस्तुओं को ढाला जा सकता है। उदाहरण के लिए पलस्तर, मिट्टी, सीमेंट, शीशा या मोम सभी को एक साँचे में ढाला जा सकता है। मन रूप को वस्तु से अलग करके सोच सकता है और इसको एक सार्वभौमिक धारणा बना देता है जैसे 'बिल्ली की धारणा'। लेकिन अनुभव में यह रूप एक विशेष बिल्ली ही की तरह दिखाई देगा।

अरस्तू के मतानुसार पदार्थ में जीवन का बीजाणु सदा से वर्तमान रहा लेकिन जीव की उत्पत्ति इतिहास के एक विशेष मुहूर्त्त में ही हुई। इस उत्तरोतर विकास मे उन्नतरूप वस्तुत्व को अधिकाधिक नीचे दबा देता है। जीव-जगत् में वस्तुत्व पर जीवन का आधिपत्य होता है और वह इसका उपयोग करता है। मनन-क्रिया-युक्त वस्तुओं में मन अपना ढांचा बनाता है और जीवन और वस्तुतत्व दोनों को अपने उद्देश्य के लिए प्रयोग करता है। मानव उद्देश्य सर्वोन्नत रूप है और इस सतह पर रूप वस्तुतत्व पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त कर लेता है। अधिक, जब वस्तुतत्त्व का आधिपत्य होता है और रूप प्राथमिक होता है तब हम कार्य-कारण की शृंखला में बहुत अधिक बँधे हुए होते हैं, लेकिन ज्यों ज्यों रूप या उद्देश्य वस्तु-तत्त्व पर अपना आधिपत्य विस्तृत करता है, त्यों-त्यों स्वतंत्रता की वृद्धि होती जाती है।

अरस्तू के रूप और श्रेणी के विचार से दो नतीजे निकलते हैं:—

(१) सब वस्तुओं की श्रेणियाँ होती हैं और हर श्रेणी के विशिष्ट गुण होते है। दुनिया विभिन्न वस्तुओं की बनी हुई है और हर वस्तु के विशिष्ट गुण हैं। विज्ञान का काम है वस्तुओं को श्रेणीभुक्त करना।

(२) अब तर्क-क्षेत्र में बुद्धि का प्रयोग सम्भव हो जाता है। यदि सब खनिज पदार्थ पानी से भारी हैं तो अलुमिनियम पानी से भारी है और यह पानी में डूब जायगा। यदि सब खनिज पदार्थ बिजली का वहन करते हैं और टंगस्टेन एक खनिज पदार्थ है तो टंगस्टेन भी बिजली वहन

करेगा। वस्तुओं के गुण निर्दिष्ट हैं, तथा व्यापक धारणाओं से, परिभाषा से और श्रेणी-विषयक स्पष्ट ज्ञान से वस्तुओं के विषय हम सब कुछ कह सकते हैं——इन्हीं के आधार पर वैज्ञानिक मननक्रिया सम्भव है।

मनुष्य के विचार-जगत् तथा विज्ञान के लिए यह बहुत आगे बढ़ा हुआ क़दम था। जिस दुनिया का ढाँचा बुद्धि प्रसूत और नियन्त्रित है और जहाँ सब वस्तुएं नियम का अनुवर्तन करती हैं वह काल्पनिक नहीं बल्कि वास्तविक है। वस्तु और जीव जन्तु की परिभाषा जान लेने पर तर्क-शास्त्र के द्वारा विश्व के ज्ञान का मार्ग सहज है। एक बुद्धि-युक्त दुनिया को सिद्ध और स्थापित करने के प्रयन्त में अरस्तू ने अपने उन सब पूर्वजों को परास्त किया जिनका कहना था कि दुनिया में कोई नियम नहीं है या जो हेरक्लिटस की भाँति यह दलील देते थे कि सब चीजे प्रवाहमान और परिर्वातत होती रहती है। सब से पहले उसी ने ज़ोर दिया कि वास्तव जगत् नियमाधीन, बुद्धियुक्त और नियन्त्रित है। दर्शन और विज्ञान के लिए यह एक बहुत बड़ी प्रगति थी।

अरस्तू के दर्शन की कई कमियाँ हैं। अरस्तू की वस्तु के गुण निर्धारित है इसलिए सच्चे अर्थ में कोई विकास नही हो सकता। विकास का अर्थ ही है एक रूप का दूसरे मे परिवर्तन। इस विकास का और अरस्तू के स्थिर गुणों का कोई सामञ्जस्य नहीं है। दुनिया की सब वस्तुओं के श्रेणीकरण का एक चित्र उसने खीचा लेकिन उनके रूपान्तरण की कोई कल्पना उसने नहीं की। कारण से कार्य को पहुँचना, जैसे किसी व्यापक सत्य का तार्किक परिणाम निकालना, यही अरस्तू के अनुसार, वैज्ञानिक ज्ञान है। एक दार्शनिक ने इसी का दूसरे शब्दों में विवरण दिया है—— "विचारों का सम्बन्ध और सिलसिला वही है जो वस्तुओं का है।"

अरस्तू के पश्चात् दर्शन में धर्म और नीति पर बहुत ज़ोर दिया गया। स्टोइक्, स्केप्टिक् और एपिकुरस्, ये सब नैतिक मसलों में उलझे रहे।

एपिकुरस——ल्युक्रेटियस कैरस की कविता, "वस्तुओं का स्वरूप" से एपिकुरस के दर्शन का पता चलता है। रोम के इस कवि ने एपिकुरस के

उच्चादर्श को इन अमर शब्दों में चित्रित किया है—"जब धर्म आकाश से अपने खूँख़ार पञ्जे मनुष्यों के ऊपर फैला रहा था और मनुष्य धर्म के बोझ के नीचे घुटने टेक रहा था, तब यूनान के एक महापुरुष ने उससे अपनी आँखें मिलाईं और उसका सामना किया। देवताओं का क्रोध और वज्र उसको दबा नहीं सका और वह पहला मनुष्य था जिसने प्रकृति के सिंहद्वार को तोड़ा।"

जिस क्रिया से मनुष्य को सुख प्राप्ति का ज्ञान हो, वही एपिकुरस के दार्शनिक सिद्धान्त का लक्ष्य है। इस सिद्धान्त को बिगाड़ कर रोमवासियों ने प्रचार किया कि 'खाओ, पिओ, और मौज करो'। अधिकतर लोग एपिकुरस को इसी भ्रष्ट रूप में देखते हैं। एपिकुरस ने इस सत्य का प्रचार किया कि सुख ही जीवन का उद्देश्य है। साधारण लोगों के लिए यह क्रान्तिकारी फलदायक था। इसलिए ईसाई धर्म ने इसका खण्डन किया और अपने दुःखमय जीवन के विरोध में विद्रोह करने से उनको रोका। एपिकुरस ने जीवन के सामने एक उद्देश्य रक्खा। यह उद्देश्य था सुख, जो विश्व-जगत् के नियमों के ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है। जो इन नियमों को नहीं जानता वही अज्ञात के डर से भयभीत रहता है। इस भय से मुक्त होना ही सुख है। मृत्यु के सम्बन्ध में एपिकुरस का कहना था कि चूँकि यह अनुभव शक्ति का अन्त कर देता है, इसलिए इससे हमको कोई घबड़ाहट नहीं होनी चाहिए। मृत्यु के आने पर हमारा अस्तित्व मिट जाता है, इसलिए मृत्यु के बाद क्या होता है, इसकी चिन्ता हमको नहीं होनी चाहिए। जिससे हमको कष्ट पहुँचता है वही बुरा है। मृत्यु हमको दुःख नहीं पहुँचाती क्योंकि जब हमारा अस्तित्व ही न हो तो हमको दुःख या सुख किसी का अनुभव नहीं हो सकता। एपिकुरस ने यह सिखलाया कि सुख अच्छा है और दुःख बुरा। सुख इसलिए अच्छा है कि यह ज्ञान प्रसूत है और दुःख बुरा है क्योंकि अज्ञानता में इसका जन्म है। स्टोइकों के मतानुसार गुण ही सुख है और एपिकुरस के मतानुसार सुखी होने के लिए मनुष्य को गुण-सम्पन्न होना चाहिए। प्रतीयमान दृष्टि से

दोनों एक समान मालूम पड़ते हैं, लेकिन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। स्टोइकों के मतानुसार गुण के लिए ही गुण को वर्तना चाहिए। गुण के वर्तने से दुःख हो सकता है, लेकिन गुण का वर्तना ही सुख है, चाहे इसका नतीजा दुःखमय हो। एपिकुरस के अनुसार गुण सुख का साधन-मात्र है। गुण तभी तक गुण है जब तक इससे सुख हो। मनुष्य तब तक सुखी नहीं हो सकता जब तक वह महान्, बुद्धिमान् और न्यायवान् न हो। लेकिन जो बुद्धिमान्, न्यायवान् और महान् है वह सुखी होगा ही। बुद्धिमत्ता, महत्ता और न्याय शाश्वत सत्य नहीं हैं; ये आपेक्षिक और परिवर्तनशील हैं; इनका निराकरण सुख के मानदण्ड से होता है; इस सुख का उद्गम है ज्ञान। ज्ञान समय के साथ परिवर्धित होता रहता है और इस प्रकार इन गुणों की कल्पना में परिवर्तन होता रहता है।

एपिकुरस के लिए ज्ञान ही सुख का मार्ग था। इसलिए प्रकृति के अध्ययन पर उसने बहुत ज़ोर दिया। उसने डीमोक्रिटस की प्रकृति-व्यवस्था और उसके परमाणुवाद को ही सिद्धान्त रूप से मान लिया। लेकिन इसमें उसने सामान्य संशोधन भी किया। डीमोक्रीटस के अणु शून्य में गिरते रहते हैं। लेकिन अणुओं का कद चाहे जैसा हो, शून्य में सब समान गति से गिरेंगे। इससे कोई जटिल गति उत्पन्न नहीं हो सकती जिससे विश्व का सृजन हो सके। इसलिए एपिकुरस ने ऐसा माना कि इन अणुओं की गति सीधी रेखा में न होकर कुछ वक्र होती है। इससे उसके दर्शन का एक और उद्देश्य भी सिद्ध होता था। इससे उसने मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा को सिद्ध किया जो प्रकृति के बाहर किसी शक्ति के अधीन न हो।

परमाणुवाद के सिद्धान्त को एपिकुरस ने जिस प्रकार वर्णन किया उसमें द्वैतवाद का कोई स्थान नहीं है : "शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति हो सकती है; यदि ऐसा न हो तो किसी चीज़ से किसी चीज़ की उत्पत्ति हो सकती है। जो कुछ है वह पिण्ड है, जो पिण्ड नहीं है वह शून्य है। अणु अविभक्त और अपरिवर्तनीय हैं। ये सर्वदा गतिमान् हैं। एक दूसरे के सामने होने पर इन अणुओं का संयोग होता है। अणुओं की गति

आदिहीन है। परिमाण, आकार और तोल को छोड़कर इनका और कोई गुण नहीं है।"

एपिकुरस की आत्मा अणुओं का ही एक विशेष प्रकार है। वस्तु से पृथक् जीवन क्रिया को दिखलाने के लिए ही इस आत्मा की सृष्टि हुई है। एपिकुरस का दर्शन वस्तुवाद ही है। धर्म के चंगुल से मुक्त होकर प्रकृति का अध्ययन करना और इसके रहस्य को सुलझाना यही सच्चे दर्शन का महान् उद्देश्य है। इसलिए एपिकुरस को सच्चे दर्शन की बुनियाद डालने का बहुत बड़ा श्रेय है।

नवीन अफ़लातूनी दर्शन—३३८ ई० मे सम्राट् सिकन्दर ने मिस्र में आलेक्ज़ांड्रिया शहर बसाया। विज्ञान और दर्शन के केन्द्र रूप में यह नगर प्रसिद्ध हो गया है। यहाँ पूरब और पश्चिम दोनों दिशाओं से विद्वान् आकर मिलते थे। इसलिए पाश्चात्य दर्शन पर ईश्वर-विद्या का गहरा प्रभाव पड़ा। एपिकुरस ने दर्शन को धर्म के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। लेकिन अब प्लाटिनस के प्रभाव में धर्म और दर्शन का सम्मिश्रण होने लगा। इस विचारधारा को नवीन अफ़लातूनी दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। इस विचार के अनुसार यावतीय वस्तुओं की उत्पत्ति एक रहस्यमय पूर्ण सत्ता से है जो अनन्त प्रज्ञा-स्वरूप भी है। इस पूर्ण सत्ता का सम्बन्ध वस्तुओं से ऐसा नही जैसा किसी बाहरी चीज़ से हो बल्कि उस प्रकार है जैसा विचार और चिन्तन-क्रिया का सम्बन्ध है। इस पूर्ण सत्ता की किसी विशिष्टता को समझने के लिए हमारे पास कोई शक्ति या साधन नही है। इससे एक सृजनकारी शक्ति विच्छुरित होती है जिसको हम ईश्वर कह सकते हैं। यह ईश्वर या दैव प्रज्ञा अपने अन्दर से और अपनी मनन-क्रिया के द्वारा विश्व-आत्मा की सृष्टि करती है जो एक साथ विश्व की आत्मा है और विश्व के हर व्यक्ति की भी आत्मा है। पार्थिव अस्तित्व पूर्ण सत्ता से अवनति है। यह अनादि अनन्त से विच्छेद है। यह अपूर्ण और आंशिक से सम्बन्ध है, जिनसे नाता तोड़ कर ही हम पूर्ण सत्ता के आदर्श पर पुनः प्रत्यागमन कर सकते हैं। मनुष्य

इस प्रकार दो दुनियाओं का निवासी है और वह सच्चे आनन्द को भूलकर इंद्रियभोग्य वस्तुओं में डूबा रहता है--जिस अवस्था में वह उन वस्तुओं की तरह विनाश प्राप्त होता है--या अपनी अन्तर्दृष्टि को ऊर्द्ध्वमुखी कर ईश्वरीय मानस के नैसर्गिक सौन्दर्य में अमरत्व प्राप्त कर सकता है।

स्कलाष्टिकों का दर्शन--धर्म और दर्शन के समन्वय का प्रयत्न करने वाले स्कलाष्टिक के नाम मे पुकारे जाते थे। इनमे दो दल थे--एक फ़ांसिस्कन् दूसरा डोमिनिकन्। फ़ांसिस्कन् अफलातून के दर्शन से प्रभावित थे। इनमें मुख्य थे जानस्कोटस् एरिगेना (ई० ८१०-८७०), रोज़ेलिनस (१०५१-११२१), सेंट आंसेल्म (१०३३-११०९), तथा आबेलार (१०७९-११४८)। डोमिनिकन इनका विरोधी दल था। इसमें मुख्य थे ऐलबर्टस तथा सेंटटमास ऐक्विनास। ये अरस्तू के दर्शन से प्रभावित थे। ऐक्विनास के लिए वस्तु वह निर्गुण पदार्थ है, वह कच्चा-माल है जिससे सब चीज़ें बनती हैं। वस्तु को जिस शकल में हम पाते हैं वह रूप है। रूप में ही उस वस्तु के गुण निबद्ध हैं। वास्तव को जिस प्रकार हम जानते है वही उसका रूप है। इसी के कारण मूर्ति एक मूर्ति है, नहीं तो वह एक निराकार पिंड होता। रूप उतना ही वास्तविक है जितना वस्तु, बल्कि एक उच्चतर श्रेणी की वास्तविकता है; क्योंकि किसी मूर्ति का रूप मनुष्य-कृत कृत्रिम चीज़ नहीं है, केवल उसकी बाहरी आकृति नहीं है, बल्कि इसका तत्त्व है। मानो यह अन्दर और बाहर दोनों ही है। विकासवाद में हम वस्तु को रूपान्तरित होते देखते हैं, यह आधुनिक विचारधारा के लिए बहुत महत्त्व की बात है। विकासवाद इस सत्य पर निर्भर है कि एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न ढाँचे बनते हैं। यह सोचना कि वस्तु ही अधिक सत्य है, मनुष्य जानवर का दूसरा रूप है, और जानवर अचेतन पदार्थ का दूसरा रूप है, एक भूल है। अधिक उन्नत रूप एक अधिक उच्च सत्य है। उसी वस्तु से विभिन्न सत्यों का संगठन हो सकता है। जीवित, चिंतनशील अनुभवपूर्ण मनुष्य भी एक ऐसा सत्य है। ऐक्वीनास

का कहना है कि वस्तुतत्त्व को तो हम इन्द्रिय के द्वारा जान सकते हैं लेकिन रूप का ज्ञान बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है।

स्कलास्टिकों ने धर्म और दर्शन का समन्वय करने का प्रयत्न किया, लेकिन इस प्रचेष्टा ने ही इनका गठबन्धन शिथिल कर दिया। स्कलास्टिकवाद की नींव डालने वाले स्कोटस् एरिजेना ने सिखलाया कि "प्रकृति में विवेक तो पहले से ही है, समय के साथ शासन-शक्ति की भी उत्पत्ति होती है। क्योंकि यद्यपि समय और प्रकृति की उत्पत्ति साथ-साथ हुई, शासन-शक्ति आरम्भ मे न थी। लेकिन विवेक तो समय और प्रकृति के साथ आरम्भ से ही है। विवेक स्वयं ही हमको यह बतलाता है। क्योंकि शासन-शक्ति तो निःसन्देह ही विवेक मे उत्पन्न हुई है, लेकिन विवेक शासन-शक्ति से अवश्य ही पैदा नहीं हुआ। और जो भी शासनशक्ति विवेक-सम्मत नहीं, वह बड़ी दुर्बल होती है। लेकिन सत्य विवेक को, जो अटल और अपरिवर्तनीय है और अपने ही गुणों से सुरक्षित है, शासन-शक्ति की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं"।

पुनरुत्थानकाल का दर्शन—रोज़ेलिनस् और आबेलार ने इस विद्रोह के झण्डे को और ऊँचा किया और रोज़ेलिनस् को तो धर्ममत खण्डन करने के कारण शहीद होना पड़ा। लेकिन दर्शन को धर्म के चंगुल से पूरा पूरा मुक्त करने का श्रेय रोजरबेकन (१२१४–१२९२) और लिओनार्दो विन्ची को है। यह यूरप में पुनरुत्थान युग का समय था और यूनान आदि के साहित्य के पुनः प्रचार से विचार-स्वतन्त्रता बहुत बढ़ गई थी। यद्यपि यह धर्मसुधार का भी समय था, लेकिन सुधारकों के विचार संकुचित ही रहे। स्वयं कैलविन ने, जो सुधार-आन्दोलन का एक बहुत बड़ा नेता था, सर्विटस् को, जो रक्त-सञ्चालन के तथ्य का आविष्कार करने ही को था, ज़िन्दा जलवा डाला। ऐसे समय में बेकन ने लिखाः—"हर विज्ञान में हमें श्रेष्ठ उपाय का अनुसरण करना चाहिए। वह उपाय है हर अंश को उचित स्थान पर अध्ययन करना, जिसका प्रथम स्थान है उसका आरम्भ में, कठिन के पहले सहज के, तथा जटिल के पहले सरल

के प्रमाण को दिखलाना होगा। यह प्रयोग बिना असम्भव है। हमारे लिए ज्ञान के तीन मार्ग हैं—आप्तवाक्य, विवेक और प्रयोग। आप्तवाक्य का कोई मूल्य नहीं जब तक इसका कारण न दिखलाया जाय; यह सिखाता नहीं केवल सहमति प्रकट करता है। विचारफल को प्रयोग से प्रमाणित कर विवेक द्वारा हम ज्ञान और प्रदर्शन के प्रभेद को देख सकते हैं। प्रयोग ही ज्ञान-विज्ञानों में श्रेष्ठ है।

बेकन—बेकन ने अपने नये तरीक़े के सम्बन्ध में कहा कि "प्राकृतिक विज्ञान पर मनुष्य ने सब से कम परिश्रम किया, यद्यपि इसी को सब विज्ञानों की जननी समझना चाहिए। जब तक कि प्राकृतिक विज्ञान विशिष्ट विज्ञानों में प्रवेश न करे और जब तक इन विशिष्ट विज्ञानों के आधार पर प्राकृतिक विज्ञान की सृष्टि न हो, विज्ञान की कोई उन्नति की आशा नहीं करनी चाहिए। मनुष्यों ने अपनी कल्पनाओं के अनुसार एक दुनिया बनानी चाही है। लोग एकाएक इन्द्रियानुभूत वस्तुओं और विशिष्ट घटनाओं से व्यापक सिद्धान्तों पर चले जाते हैं और इनके पीछे तर्क और दलीलें चलती रहती हैं। रास्ता इसका उल्टा होना चाहिए। हमें क्रमशः सिद्धान्त को व्यापक बनाना चाहिए। हमें विशिष्ट वस्तुओं से उन पर उपनीत होना चाहिए जो कुछ अधिक व्यापक हैं और फिर उन पर जो उनसे अधिक व्यापक हैं और इस प्रकार ऐसे सिद्धान्तों पर उपनीत होना चाहिए जो सार्वभौमिक हैं। इस प्रकार से जिन सिद्धान्तों पर हम उपनीत होते हैं, वे धुँधले नहीं होते बल्कि ऐसे जिनको प्रकृति स्वयं स्वीकार करने के लिए बाध्य है। इन्द्रियों की गवाही को मैं मानता हूँ—हाँ, उसको संशोधित करके। लेकिन इस अनुभूति के बाद की मानसिक क्रिया का मैं प्रत्याहार करता हूँ। इसकी जगह मैं मन को एक निश्चित मार्ग बतलाता हूँ, जिस पर, इन्द्रियानुभूति से उसको सीधे चलना चाहिए।"

देकार्ते—बेकन ने जो रास्ता दिखाया, देकार्ते (१५९६–१६५०) ने उसको पूरा किया—देकार्ते ने दर्शन को धर्म के बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त किया। देकार्ते ने कहा—ईश्वरवाद भी बुद्धि से परे की चीज़ नहीं

है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए देकार्ते ने आनसेल्म तथा काम्पानेला की दलीलों की सहायता ली। उसने जगत् की सृष्टि के लिए एक यान्त्रिक सिद्धान्त की रचना की। वस्तु और गति के द्वारा विश्व के विकास को समझाने के लिए उसने भँवर गति का सिद्धान्त निकाला। प्राचीन परमाणुवाद में दूर से प्रभाव डालने वाली ग़लती को सुधारने का उसने प्रयत्न किया। पदार्थ का प्रधान गुण है फैलाव; इसलिए जहाँ फैलाव है, वहाँ पदार्थ भी है। इस आधार पर रिक्त स्थान के अस्तित्व को उसने अस्वीकार किया। उसने यह माना कि यह रिक्त स्थान कोणयुक्त कणों से भरा है। सब पदार्थ गतिशील हैं। उनके घर्षण से इन कणों के कोण घिस जाते हैं और ये गोल बन जाते हैं। छोटे छोटे कण घिसकर एक प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ बन जाते हैं। पहले प्रकार के कणों से सूर्य तथा और प्रकाशवान् वस्तुएं बनती हैं। दूसरे प्रकार के कणों से आकाश बनता है। एक तीसरे प्रकार के कण होते हैं जो अधिक स्थिर होते हैं। इनसे पृथ्वी आदि बनती है जिनके अन्दर से होकर रोशनी नहीं जा सकती। इनकी गति, वृत्ताकार लहरों जैसी, यानी भँवर गति होती है। मोटी वस्तु भँवर के बीच इकट्ठा होती रहती है और दूसरे पदार्थ इसको घेरे रहते हैं। ग्रह-नक्षत्रादि भँवर-गति से सूर्य के चारों ओर घूमते रहते है।

देकार्ते के दार्शनिक सिद्धान्तों की बुनियाद है प्रज्ञावाद। दार्शनिक समस्याओं में एक मुख्य समस्या है कि ज्ञान हमको कहाँ से प्राप्त होता है और यह ज्ञान कहाँ तक ठीक है। प्रज्ञावाद इसका एक उत्तर है। साधारण तौर पर इसका सिद्धान्त यह है कि मन में कुछ बने बनाये सिद्धान्तों का अवस्थान है और इन्हीं सिद्धान्तों पर बुद्धि को सञ्चालित करने से हर पदार्थ के विषय में सारे सत्य का ज्ञान हो सकता है। ऐसा समझा जाता था कि जैसे दो-एक बुनियादी बातों के सहारे कुल गणित का महल खड़ा किया जा सकता है वैसे ही एक अच्छा दार्शनिक विश्व-संसार के कुल सत्य का आविष्कार कर सकता है। इसलिए प्रज्ञावादी दार्शनिक वह है जो यह

समझता है कि बुद्धि के द्वारा ही और बिना अनुभव के दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और यही सत्य ज्ञान है। यदि जगत् एक गणित की समस्या होती तो बुद्धि के लिए प्रज्ञावादी दार्शनिक का दावा सच होता। लेकिन जगत् हू बहू गणित नहीं है। निर्धारित घटनाएँ भी इसमें सम्मिलित हैं और वहाँ तक यह गणित की तरह है; यह हिस्सा बुद्धि का विषय है। लेकिन अनिर्धारित घटनाएँ भी इसमें शामिल हैं और इस अर्थ में यह गणित से भिन्न है। निर्धारित घटना का उदाहरण है जैसे, किसी त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं। यह निर्धारित घटना इसलिए है कि त्रिभुज की परिभाषा से ही यह निर्धारित हो जाती है। इस प्रकार की घटनाओं का बुद्धि से आविष्कार किया जाता है और एक बार बुद्धिगम्य होने पर अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं रह जाती। निर्धारित घटना के और कुछ होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अनिर्धारित घटनाएँ वे हैं जो किन्हीं पूर्व घटनाओं के ऊपर निर्भर नही हैं। वे आवश्यक रूप से किसी घटना का फल नहीं होती। उदाहरण के लिए किसी पदार्थ-विशेष का पीला होना, जिसका विशिष्ट गुरुत्व सोने के समान हो, बुद्धि से आविष्कार करने की चीज़ नहीं है। इस प्रकार दार्शनिकों में एक दल पैदा हो गया जिसका कहना था कि विश्व को जानने का एक ही उपाय है और वह है उसके संस्पर्श में आना और उसका अनुभव करना। दूसरे शब्दों में बुद्धि यह तो बता सकती है कि एक वस्तु 'क' के अस्तित्व का क्या परिणाम होगा, लेकिन बुद्धि यह नही बता सकती कि 'क' का अस्तित्व है भी या नही। जो घटनाओं के अवलोकन या अनुभव को ही ज्ञान का मार्ग बताते हैं उनको अनुभववादी दार्शनिक के नाम से पुकारा जाता है। अनुभववादियों ने दुनिया के क्रूर सत्यों पर जोर दिया है। मनुष्य काम करने के लिए स्वतन्त्र है अथवा दुनिया किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए आगे चल रही है, इस प्रश्न पर अनुभववादियों को सन्देह है। संसार आध्यात्मिक है, ईश्वर का अस्तित्व है, यह बाते अनुभव की नहीं हैं। जब अनुभववादी

उन बातों को अस्वीकार करता है जिनका अनुभव इन्द्रियों के द्वारा नहीं किया जा सकता तो वह आध्यात्मिकता पर विश्वास नहीं कर सकता। इसलिए इनका दर्शन आदर्शवादी न होकर व्यावहारिक है। इनके प्रभाव से साधारण बुद्धिवाले मनुष्य के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। प्रज्ञावादी दार्शनिक के लिए संसार का ज्ञान उसकी बुद्धि के ऊपर निर्भर है। बुद्धि की प्रक्रिया के द्वारा उसने यह सिद्ध किया कि जगत् मौलिक रूप से आध्यात्मिक है। बुद्धि की योजना के द्वारा, भिन्न प्रकार की दलीलों से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। जब अनुभव-वादी बुद्धि-सिद्ध आध्यात्मिक जगत् का खंडन करता है तो प्रज्ञावादी कहता है कि इन्द्रियानुभव मायामात्र है।

देकार्ते एक प्रज्ञावादी दार्शनिक थे। वह एक विख्यात गणितज्ञ भी थे और उनका दर्शन गणित-प्रधान है। जैसे कुछ स्वय सिद्ध सत्यों के अनुमान के आधार पर गणित-शास्त्र का अस्तित्व है, देकार्ते के अनुसार मनुष्य के भी कुछ ऐसे सहज प्रत्यय हैं जिनके आधार पर विश्व की सम्पूर्ण बातें जानी जा सकती हैं।

ऐसा कोई ज्ञान (सहज प्रत्यय) हमको प्राप्त है भी या नहीं, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। एक उदाहरण ले लीजिए—दो और दो मिलकर चार होते हैं। यह सही है कि कुछ ठोस पदार्थों की गिनती के अनुभव से ही हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं, लेकिन इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि सब प्रकार के पदार्थों की गिनती का हमें अनुभव हो। दो एक बार मिलाकर ही हम इस व्यापक सत्य पर पहुँच जाते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इस व्यापक सत्य का ज्ञान अनुभव के ऊपर निर्भर है यद्यपि एक दो अनुभव के बाद ही इस सहज प्रत्यय की ओर हमारी दृष्टि जाती है। वह ज्ञान जो अनुभव से प्राप्त न हो सहज प्रत्यय कहलाता है। मानो यह ज्ञान हमको सदा से ही रहा है लेकिन ज्ञान-दृष्टि के खुलने के लिए दो एक बार अनुभव की आवश्यकता है।

यद्यपि इस प्रकार के सहज प्रत्यय अथवा स्वतः प्राप्त ज्ञान का अस्तित्व

मान भी लिया जाये तथापि इस प्रकार के ज्ञान के जिन विषयों की सूची देकार्ते ने बनाई उन सबको मान लेना सम्भव नहीं। इस प्रकार के स्वत: सिद्ध ज्ञान को मान लेने से ही यह नतीजा निकलता है कि ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जिनका ज्ञान हमको है लेकिन जिनको हम प्रमाणित नहीं कर सकते। ये बुद्धिग्राह्य हों और मनुष्य के लिए स्वत: सिद्ध हों ये ही उनकी सत्यता के अकाट्य प्रमाण हैं। इसलिए हम देकार्ते को यह कहते हुए पाते हैं कि बुद्धि का स्पष्टाभास ही ज्ञान है। जिस किसी चीज़ को हम मन में स्पष्ट रूप से देख सकें वही सत्य है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि जिस चीज़ का देकार्ते के मन में स्पष्टाभास हो, मेरे मन में भी उसका स्पष्टाभास हो। उदाहरणार्थ बुद्धि की सम्मति से जिस चीज़ के अस्तित्व पर भी देकार्ते सन्देह कर सकता था उसने किया और अन्त में इस नतीजे पर पहुँचा कि वह एक ही विषय पर निस्सन्देह है और वह यह कि वह सन्देह कर रहा है। दूसरे शब्दों में वह मनन कर रहा है अर्थात् वह एक मननशील आत्मज्ञानी पुरुष है। इसलिए उसके अतिभौतिक दर्शन की बुनियाद है—"मै मनन करता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है।" Cogito Ergo Sum.

देखने में यह अकाट्य सत्य मालूम पड़ता है लेकिन इसमें दो बहुत बड़ी कठिनाइयाँ छिपी हुई हैं। पहली कठिनाई यह है कि इस प्रतीति के पीछे एक प्रतीति करनेवाले का अस्तित्व मान लिया जाता है जो हर अवस्था में अपरिवर्तित रहता है। चूंकि चेतना है इसलिए देकार्ते ने मान लिया कि एक चैतन्य पुरुष है जिसकी यह चेतना है, और जो एक मुहूर्त्त में चैतन्य है, दूसरे मुहूर्त्त में भी वही पुरुष चैतन्य है। लेकिन इस चैतन्य पुरुष की काफ़ी छान-बीन किये बिना इस बात को मान नहीं लिया जा सकता। दार्शनिक ह्यूम ने इसकी कड़ी आलोचना की। उसने कहा कि सामयिक मानसिक अवस्थाओं जैसे भय, आशा, अभिलाषा, अथवा चिन्ता आदि का हमें अनुभव है, लेकिन उस पुरुष का कोई अनुभव नहीं जो भय, आशा, अभिलाषा या चिन्ता करता है। यदि ऐसी कल्पना की जाये कि ये मानसिक

अवस्थाएँ गोटों के समान हैं जो आत्मारूपी धागे में बँधी हुई हैं तो ह्यूम का कहना है कि इन गोटों के अस्तित्व का तो प्रमाण है लेकिन इस धागे के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं। उपर्युक्त वाक्य की दूसरी कठिनाई यह है कि इससे ऐसा भ्रम फैलता है कि मन को बाहरी वस्तुओं की अपेक्षा अपनी अवस्थाओं का अधिक ज्ञान है। इससे बाहरी दुनिया का अस्तित्व ख़त्म हो जाता है, केवल एक मानसिक कल्पना की दुनिया रह जाती है।

इसका एक अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि देकार्ते को शरीर से मन को पूर्ण रूप से पृथक् कर देना पड़ा। उस समय गति-विज्ञान की प्रभूत उन्नति हो रही थी और यह समझा जाता था कि कुछ अवस्थाओं का ज्ञान होने पर वस्तु की गति का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जा सकता है। यदि ऐसा है तो वस्तु की गति यान्त्रिक है और पहले से निर्धारित है। शरीर भी वस्तुकणों का बना हुआ है, इसलिए इसकी गति भी यान्त्रिक तथा पूर्व निर्धारित है। अब, मन का यदि शरीर से कोई पार्थक्य नहीं तो इसकी भी कोई स्वतन्त्रता नहीं रह जाती; इसकी गति भी पूर्व निर्धारित होनी चाहिए। लेकिन यह नतीजा उन दार्शनिकों के लिए अपाच्य है जो मन को स्वतन्त्र देखना चाहते हैं। उनको देकार्ते के साथ यह मानना पड़ता है कि मन शरीर के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त है।

देकार्ते के कथनानुसार ईश्वर ने दो पदार्थ बनाये, मानस और वस्तु। मन की वृत्ति है चिन्तन और वस्तु की विशेषता है फैलाव। ये दोनों एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नही। मन और शरीर जैसे दो समानान्तर रेखाएँ हैं जिनका ऐसा सम्बन्ध है कि यदि एक में कोई घटना घटती है तो दूसरे में भी अनुरूप घटना घटती है। परन्तु जिस प्रकार दो घड़ियों के एक साथ बजने से उनमें कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होता उसी प्रकार मन और शरीर का भी कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। यह तो ईश्वर की कृपा है कि शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में इस प्रकार का सामञ्जस्य हो जाता है जिसके बिना मनुष्य जीवन

सम्भव नहीं। इस प्रकार देकार्ते के दर्शन के पीछे ईश्वरीय माया का एक बहुत बड़ा अंश है।

देकार्ते के दार्शनिक विचारों का दो दिशाओं में विकास हुआ। इनमें से एक आधुनिक भौतिकवाद है और दूसरी आदर्शवादी धारा है जो इसके विरुद्ध है। पहली के प्रवर्तक हैं स्पिनोज़ा (१६३२–१६७७) और दूसरी के लाइबनिट्स् (१६४६–१७१६)।

स्पिनोज़ा—स्पिनोज़ा ने प्रज्ञावाद को चरम सीमा तक पहुँचाया। प्रज्ञा को उन्होंने सब अनुशासनों के ऊपर आसन दिया। यहाँ तक कि, उन्होंने यह माँग पेश की कि धर्म-ग्रन्थों की भी उसी प्रकार छान-बीन होनी चाहिए जैसे किसी और ऐतिहासिक दस्तावेज की। बुद्धि या प्रज्ञा का विशेष काम यही है कि वस्तुओं के आपसी सम्बन्धों की खोज और छान बीन करे। इसलिए यह प्राकृतिक घटनाओं के आंतरिक सम्बन्ध को समझाने के लिए किसी अति प्राकृतिक शक्ति के दख़ल के दावे को अस्वीकार करता है। स्पिनोज़ा ने प्रकृति की जो कल्पना की, उसमें मानसिक, आत्मिक, भौतिक, मानवीय तथा ईश्वरीय सभी चीज़ों के लिए स्थान है। वास्तव में स्पिनोज़ा के लिए ईश्वर और प्रकृति एक ही है। सम्पूर्ण ईश्वर है और ईश्वर सम्पूर्ण है।

स्पिनोज़ा के दर्शन के मुख्य आधार हैः—अस्तित्व-मात्र का एकत्व; घटनाओं की नियमानुवर्तिता; तथा भूत और आत्मा का समत्व। ये भौतिकवादी सिद्धान्त हैं, लेकिन सर्वभूत में ईश्वर को देखनेवाले स्पिनोज़ा के लिए यावतीय पदार्थों का मूल है "आत्मामय भूत।"

हर एक सीमित वस्तु और घटना असंख्य और वस्तुओं तथा घटनाओं पर निर्भर है और इनमें से हर एक इसी प्रकार अनेकों और वस्तुओं तथा घटनाओं पर निर्भर है। लेकिन इस प्रकार की वस्तुओं और घटनाओं के जमघटों का समझना मुश्किल है। इसलिए कोई ऐसी आत्मनिर्भर वस्तु या वास्तविकता होनी चाहिए जिसके ऊपर और सब वस्तु निर्भर हों। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि यह आत्मनिर्भर वस्तु प्रकृति का निर्मात्री

हो और प्रकृति के बाहर हो। समग्र सृष्टि और ईश्वर समपर्यायवाचक हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह विचार विविध मूल पदार्थों के बहुत्व का परिहार करता है और शून्य से सृष्टि की समस्या की उलझन से हमको बचाता है। प्रकृति अथवा ईश्वर की कल्पना एक अनन्त और पूर्ण की कल्पना है जिसके बाहर कोई चीज़ नहीं है। कोई अतिप्राकृतिक शक्ति इस सृष्टिचक्र के बाहर नहीं है। प्रकृति स्थाणु नहीं है बल्कि गतिशील है और सब प्रकार की शक्तियाँ इसमें वर्तमान हैं। हर एक मूल शक्ति ईश्वर का अंग है। मनुष्यों को केवल दो अंगों की अनुभूति है, एक व्यापकता और दूसरी मनन शक्ति या बाह्य शक्ति तथा मानसिक शक्ति। भौतिक पदार्थ तथा घटनाएँ व्यापकता में सम्मिलित हैं और मन तथा मानसिक अनुभूतियाँ मनन शक्ति के अन्तर्हित हैं। शरीर और मन के बीच परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का कारण यह है कि दोनों एक ही अन्तिम सत्ता के विभिन्न रूप हैं जो एक ही समय विराजमान होते हैं। लेकिन साथ ही साथ स्पिनोज़ा का कहना है कि विचार अस्तित्व से सम्बन्धित है और मन पदार्थ का विपरीत भाग है। पदार्थ की गति के अनुरूप मन की भी गति होती है और आन्तरिक नियम-बन्धन बाहरी नियम बन्धन का प्रति-बिम्ब-मात्र है। जिस किसी चीज़ की धारणा बुद्धि-द्वारा होती है, उसका अस्तित्व बाहरी दुनिया में है। दूसरे शब्दों में विचार बाहरी वस्तुओं की प्रतिकृति-मात्र है। कार्यकारण के सम्बन्ध पर स्पिनोज़ा का प्रभूत विश्वास था। उन्होंने यह दलील दी कि लोहा पीटना तभी सम्भव है जब हथौड़ी हो। लेकिन हथौड़ी बनाने के लिए एक और हथियार चाहिए और इस प्रकार अनन्त तक एक कार्यकारण की शृंखला है। इसका भौतिक आधार स्पिनोज़ा के प्रसिद्ध प्रवचन में स्पष्ट हो जाता है कि कोई दो चीज़ें एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं जब तक दोनों में कोई समान गुण न हो। यदि इस दृष्ट दुनिया की सृष्टि उसी अवस्था में हो सकती है कि आत्मा भूत को प्रभावित कर सके तो इन दोनों में कोई गुण समान होना ज़रूरी है। इस दशा में मूलतः दोनों एक हैं।

अन्तिम कारण के सिलसिले में स्पिनोज़ा का कथन उल्लेखनीय है। "मनुष्य किसी उद्देश्य से सब कुछ करता है चाहे किसी भलाई के लिए या किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए। यही कारण है वह सदा चीज़ें के अंतिम कारण जानने की चेष्टा करता है। अपने अन्दर और बाहर दोनों जगह अपनी सुविधा प्राप्त करने का साधन उसको दिखलाई पड़ता है, जैसे देखने को आँख, चबाने को दाँत, रोशनी के लिए सूरज और मछली पालने के लिए समुद्र इत्यादि। इसलिए वह समझता है कि उसी के उपयोग के लिए सब चीज़ें बनी हैं। चूँकि ये चीज़ें उसको बनाना नहीं पड़ी बल्कि मिल गई इसलिए वह समझता है कि किसी ने इन चीज़ों को उसके व्यवहार के लिए ही बनाया है। वह ऐसा विश्वास नहीं कर सकता है कि ये चीज़ें बनाई नहीं गई हैं बल्कि स्वयं ऐसी बन गई हैं। अपने अभ्यास की दुहाई देकर वह यह कहता है कि जैसे हम वस्तुओं को अपने उपयोग के लायक़ बना लेते हैं उसी प्रकार प्रकृति के अधीश्वर ने प्रकृति को हमारे व्यवहार के उपयुक्त बनाया होगा। इस प्रकार यह अन्तिम कारण रूढ़ि की भाँति मनुष्य के मस्तिष्क में बस गया है। प्रकृति में मनुष्योपयोगी वस्तुओं के अतिरिक्त बहुत सी हानिकर तथा विषैली चीज़ें भी हैं या होती हैं, जैसे तूफ़ान, ज़लज़ला, बीमारी आदि। मनुष्य ने अनुमान किया कि ये इसलिए होती हैं कि देवताओं का कोप उन पर होता है। यद्यपि धार्मिक और अधार्मिक दोनों ही कोप के पात्र होते हैं लेकिन फिर भी उनकी रूढ़ि मिटती नहीं। बुद्धि से नया मार्ग आलोकित करने की अपेक्षा अज्ञान के अन्धकार में निवास करना अधिक सहज था।"

स्पिनोज़ा ने ईश्वर के स्थान पर प्रज्ञा को प्रतिष्ठित किया। लेकिन इसके अचूक होने का क्या प्रमाण है? निर्मल विचार कैसे सम्भव है? दर्शन की यह एक मुख्य समस्या है—"क्या अनुभव के अतिरिक्त और इससे स्वतन्त्र कोई विचार हो सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' में देनेवाले आदर्शवादी हैं और 'ना' में देनेवाले भौतिकवादी हैं।

हॉब्स—हॉब्स (ई० १५८८ से १६७९) ने नास्तिकता को चरम सीमा

पर पहुँचाया। केवल भौतिक घटनाओं को ही नहीं, दुनिया की हर चीज़ को उसने यान्त्रिक व्याख्या-द्वारा समझाने की कोशिश की। यह व्याख्या भौतिकवाद की भी आखिरी हद थी। इसके अनुसार केवल वस्तु और गति अन्तिम सत्य है। ये बाक़ी सब चीज़ों के मौलिक तत्व हैं। यहाँ तक कि मनुष्य के ज्ञान की बुनियाद भी ये ही है। क्योंकि इंद्रियानुभव से ही ज्ञान की उत्पत्ति है और इंद्रियानुभव का अर्थ ही है इंद्रियों पर वस्तुओं का दबाव। वास्तव में इंद्रियानुभव और विचार, गति-विशेष ही है और मन एक भौतिक पदार्थ है। हर वस्तु का यह मौलिक गुण है कि वह अपनी वर्तमान अवस्था में ही रहना चाहती है, वह अवस्था चाहे गतियुक्त हो चाहे गति-विहीन।

हॉब्स ने लिखा, "हम जो कुछ कल्पना करते है वह सीमायुक्त है। इसलिए कोई विचार, किसी चीज़ की धारणा असीम नहीं हो सकती। कोई मनुष्य असीम समय या असीम शक्ति की धारणा नहीं कर सकता। जब हम किसी चीज़ को असीम कहते है तब हमारा अर्थ यही होता है कि हमको उसकी सीमा का कोई ज्ञान नहीं है, या दूसरे शब्दों में उस वस्तु के विषय में हम अपनी अज्ञता प्रकट करते हैं। ईश्वर का नाम इस-लिए नही लिया जाता कि उसकी धारणा हम कर सके (क्योंकि वह अज्ञेय है और उसकी शक्ति धारणातीत है) बल्कि इसलिए कि हम उसकी पूजा करें। इंद्रियानुभूति के बाहर हम किसी चीज़ की धारणा नहीं कर सकते।"

लाइबनिट्स—लाइबनिट्स (१६४६–१७१६) ने भौतिकवाद का खण्डन करने का प्रयत्न किया। भौतिकवाद को विध्वंस करने के लिए उन्होंने परमाणुवाद के सिद्धान्त को संशोधित रूप में रक्खा। यह प्रमाणित करने के लिए कि निर्जीव भूत से विश्व की सृष्टि नहीं हुई, उसने यह बताया कि अणु अनुभवयुक्त है, अनुभव-शक्ति अणुओं का स्वाभाविक गुण है। लाइबनिट्स के अणु आध्यात्मिक अणु है जिनका नाम उसने दिया "मोनाड"। "भौतिक अणुओं का स्थान बुद्धियुक्त कण ले लेते है; भौतिक का स्थान अतिभौतिक ले लेता है"। लेकिन यह आध्यात्मिक कण स्वतन्त्र

नहीं हैं। ये एक "पूर्व सुसंगति सामजस्य" के नियमानुवर्ती हैं और यह नियम यान्त्रिक है। 'मोनाड' असंख्य और असमान हैं। ये 'मोनाड' (शक्याणु) मानो एक एक छोटी छोटी दुनिया हैं और एक दूसरे पर इनका कोई असर नहीं। जो परस्पर सम्बन्ध इनका प्रतीत होता है वह भगवान् की महिमा है। ईश्वर ने जैसे कई एक घड़ियाँ बना रक्खी हैं जो एक साथ समय बताती हैं। ये 'मोनाड' अनन्तकाल से हैं और किसी ने इनको सृष्ट नहीं किया। लेकिन लाइबनिट्स को एक सृष्टिकर्ता की ज़रूरत थी। इसलिए कार्यकारण के सूत्र को मानते हुए भी उसने एक स्थान पर इसको तोड़ दिया और उस स्थान पर सृष्टिकर्त्ता को बैठा दिया। यह सूत्र इस प्रकार छिन्न हो गया कि इस सृष्टिकर्त्ता का कोई कारण नहीं है। वह स्वयंभू है। लेकिन यह सृष्टिकर्त्ता अपनी सृष्टि में कोई दख़ल नहीं दे सकता। सृष्टि तो 'पूर्व सुसंगति सामजस्य का' नियमानुवर्ती है। 'मोनाड' को भी सृष्टिकर्त्ता की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि इसका विकास अपनी अर्न्तानिहित शक्ति से ही होता है। ये 'मोनाड' भ्रूणस्थित आत्मा है; जीव, निर्जीव, पशु, मानव सभी इसमें सम्मिलित हैं। मानस और शरीर के द्वित्व का अन्त तो 'मोनाड' करता ही है, मनुष्य और मनुष्येतर पशुओं के मौलिक गुण-विभेद का भी यह अन्त करता है।

लाइबनिट्स ने देकार्ते के आदर्शवाद की नींव को और मज़बूत बनाया। आदर्शवाद वस्तु को माया समझता है और आदर्शवादी दुनिया में हर एक वस्तु मानसिक है। देकार्ते के इस कथन ने, कि मन को केवल अपनी ही अवस्थाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान है, इस आदर्शवाद की बुनियाद डाल दी थी। लाइबनिट्स ने दो प्रकार से इस बुनियाद को और मज़बूत किया।

वस्तु के अस्तित्व में विश्वास करने का क्या कारण है? साधारण मनुष्य का उत्तर यही होगा कि इन्द्रियों द्वारा हम बाहरी वस्तुओं का जो प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, उसी से हमको वस्तु का ज्ञान है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तो हम

ऐसी चीज़ के संस्पर्श में आते हैं जो हमारे मन से भिन्न हैं लेकिन जिसका प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है, जिस कारण हम यह कहते हैं कि हम उस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण कर रहे हैं। लेकिन लाइबनिट्स के लिए यह स्वीकार करने का अर्थ होता कि एक 'मोनाड' दूसरे 'मोनाड' पर प्रभाव डाल सकता है, क्योंकि विश्व में केवल 'मोनाड' का अस्तित्व है और बाहरी वस्तु 'मोनाडों' का एकत्रीकरण-मात्र है। इसलिए प्रत्यक्षीकरण के विषय में लाइबनिट्स का मत यह था कि देखनेवाले मोनाड में जो क्रिया होती है उसी के समानान्तर में उस 'मोनाड' में क्रिया होती है जिसको देखा जाता है।

तथ्य यह निकलता है कि जो हमारे ही अन्दर न घटती हो ऐसी किसी घटना की हमको अनुभूति नहीं होती। इसलिए हमको बाहरी दुनिया की कोई अनुभूति नहीं। चूँकि हमारे अन्दर की घटनाएँ जिनकी हमको अनुभूति है, मानसिक घटनाएँ हैं—जैसे विचार, भाव, इच्छा आदि, इसलिए नतीजा यह निकलता है कि दुनिया ऐसी ही घटनाओं से बनी है। लाइबनिट्स के एक-दूसरे कथन से इसका कुछ विरोध प्रतीत होता है। वह कथन यह है कि विश्व का अर्थात् दूसरे 'मोनाडों' का अस्पष्ट प्रकार से प्रत्यक्षीकरण करने के कारण ही हम वस्तु पर विश्वास करते हैं। विभिन्न 'मोनाडों' के मानसिक विकास का स्तर भिन्न है। उदाहरणार्थ मनुष्य का शरीर असंख्य 'मोनाडों' से संगठित है, लेकिन उसका मन या उसकी आत्मा, जो इस संगठन का नेतृत्व करती है, एक ही मोनाड की बनी होती है। विश्व के विषय मे इन 'मोनाडों' के विचार समान रूप से स्पष्ट नहीं होते। अनुन्नत 'मोनाड' की दृष्टि धुंधली होती है। मनुष्य के मन जैसे उन्नत प्रकार के 'मोनाड' की दृष्टि भी कुछ धुंधली होती है जिसके कारण वह विश्व को मानसिक 'मोनाड' के संग्रह के रूप में न देखकर व्यापक वस्तुओं के रूप में देखता है। केवल ईश्वर की दृष्टि में जो सर्वोन्नत 'मोनाड' है, विश्व आत्मनिर्भर 'मोनाडो' का संगठन है। इस प्रकार वास्तव और प्रतीति में भेद उत्पन्न होता है—वह दुनिया

जो वास्तविक है और जो झूठे रंग में हमारे सामने आती है। दर्शनशास्त्र में इसका महान् प्रभाव पड़ा।

लॅक (१६३२ से १७०४) ने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र को संकुचित करना चाहा। उसका कहना था कि सृष्टिविषयक खोज में पड़ना व्यर्थ है। हमको पहले यह जान लेना चाहिए कि हमारा ज्ञान कहाँ तक पहुँच सकता है और किन वस्तुओं का ज्ञान हमको प्राप्त हो सकता है। इसके उत्तर में उसने इन्द्रियानुभूतिवाद की स्थापना की। इसके अनुसार हमारा ज्ञान अनुभूति पर निर्भर है। इन अनुभूतियों पर मनुष्य विचार कर सकता है और इनको मिलाकर एक जटिल सम्पूर्णता की भी सृष्टि कर सकता है। लेकिन इनमें कोई नई चीज़ वह नहीं जोड़ सकता। यह अनुभूति अधिक से अधिक वस्तुओं के प्राथमिक गुणों—जैसे व्यापकता, बनावट, अवस्था (ठोस, तरल आदि) संख्या और गति इत्यादि के अनुकरण मात्र हैं। दूसरे प्रकार के गुण—जैसे रंग, गंध, शब्द और स्वाद की अनुभूति, ज्ञाता के ऊपर प्राथमिक गुणों के प्रभाव-मात्र हैं।

प्रज्ञावादियों के इस कथन का, कि अनुभूति के अतिरिक्त भी हमको कुछ स्वयं प्राप्त ज्ञान है, लॅक ने खंडन किया। लेकिन पूरे तौर से नहीं; क्योंकि लॅक ने यह मान लिया कि हमको जिन गुणों की अनुभूति है वे किसी वस्तु के गुण हैं, यद्यपि हमको उन गुणों की ही अनुभूति है न कि उस वस्तु की। इसलिए वस्तु का ज्ञान स्वयं प्राप्त ज्ञान है। लॅक की धारणा यह थी कि वस्तु निर्गुण है और इसकी अनुभूति हमको तब होती है जब इसमें कुछ गुणों का सम्मेलन हो। इसको लेकर विशप बर्कले ने यह सिद्ध किया कि वस्तु कोई चीज़ नहीं, केवल मन और मन-द्वारा कल्पित गुण ही है।

भौतिकवादी विचारधारा—एक ओर से तो इन्द्रियानुभूतिवाद आदर्शवाद में परिणत हुआ और दूसरी ओर यह भौतिकवाद में परिणत हुआ। बेकन ने इस भौतिकवाद की बुनियाद पहले ही डाल दी थी, हॅब्स ने इसको पुष्ट किया और फ़ान्सीसी दार्शनिक कॅनडिलाक ने इसका विस्तार किया।

कॅनडिलाक लॉंक से एक क़दम और आगे बढ़ा। उसका कहना था कि विचार से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। ज्ञान का एकमात्र उद्गम इन्द्रियानुभूति है। उसका कहना है कि मन एक वृत्तिमात्र है जिससे बाहरी वस्तुओं और इन्द्रियों के संयोग द्वारा और वृत्तियों का विकास होता है। इन्द्रियों से स्वतन्त्र विचारशक्ति के अस्तित्व को मानने से उसने इंकार किया। ज्ञान और इन्द्रियानुभूति को उसने बिलकुल एक कर दिया। इरासमस डारविन ने इस सिद्धान्त को और मौलिक रूप से रक्खा। उसने विचार की परिभाषा इस प्रकार की—"यह उन रेशों का संकुचन, उनकी गति या रूप में परिवर्तन है, जिनसे इन्द्रियाँ बनी होती हैं।" इन्द्रियों की गति, जो विचार का दूसरा नाम है, मांस-पेशियों की गति से भिन्न है। उसने इन्द्रियानुभूतिवाद को पूरे तौर पर न माननेवालों से यह प्रश्न किया कि यदि "हमारी स्मृति-शक्ति या कल्पना जीवगति नहीं है तो यह क्या है? तुम कहते हो कि यह वस्तुओं का चित्र या प्रतिकृति है। यदि ऐसा है, तो इतना बड़ा चित्रपट कहाँ टँगा है? या इतने पात्र कहाँ है जिनमें इनका संग्रह होता है? ये प्रतिकृतियाँ आलोक के नियम की अंगीभूत हैं न कि जीवन के नियम की।" इन्द्रियानुभूतिवादी अपने को इस गतानुगतिक विश्वास से मुक्त नहीं कर पाते थे कि मनुष्य में एक आत्मा का निवास है जो बाहरी वस्तुओं की छाप को ग्रहण करता है। इरासमस डारविन ने इस विचार के खोखलेपन को दिखलाया। डारविन तथा हार्टले आदि वैज्ञानिकों की खोजों का अन्तिम परिणाम यह निकला कि बाहरी वस्तुओं के संस्पर्श से स्नायुओं के द्वारा जो एक शारीरिक क्रिया होने लगती है उसी से विचार उत्पन्न होते हैं।

कॅनडिलाक के शिष्य काबानी ने इन्द्रियानुभूतिवाद को बहुत सुन्दर रूप से रखा। उसके विचारों का संक्षिप्त नतीजा यह है :—

"मनुष्य की इन्द्रियों पर बाहरी वस्तुओं की क्रिया प्रतिक्रिया की जो छाप पड़ती है वही उसका ज्ञान है तथा उसके अस्तित्व का कारण है; क्योंकि जीवन अनुभव है; और उन घटनावलियों की अद्भुत शृंखला

में जिसको अस्तित्व कहते हैं, हर एक ज़रूरत किसी मानसिक वृत्ति के विकास के ऊपर निर्भर है। हर एक वृत्ति अपने विकास के साथ किसी न किसी ज़रूरत को पूरा करती है; ज्यों ज्यों कि आवश्यकताओं को पूरा करने की वृत्ति के साथ आवश्यकतायें बढ़ती रहती हे त्यों त्यों अभ्यास से वृत्तियाँ परिवर्धित होती हैं। मनुष्य की इन्द्रियों पर बाहरी वस्तुओं के लगातार घात-प्रतिघात का ही नतीजा है उसके अस्तित्व का सबसे अद्भुत अंश।"

अठारहवीं सदी के फ़्रांसीसी भौतिकवाद को "प्राकृतिक प्रथा" नामक पुस्तक में लिपिवद्ध किया गया।

यह पुस्तक हालवाश के नाम से प्रकाशित की गई, लेकिन वास्तव में यह किताब कई लोगों ने मिलकर निकाली थी, जिनमें दीदेरो बफों, दत्रेसी हेलवेशियस आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है? यह पुस्तक इस प्रश्न का उत्तर देती है। इसके मुखबन्ध में ही उत्तर का सारांश है:—मनुष्य दुखी इसलिए है कि वह प्रकृति को ग़लत समझता है। उसके ऊपर रूढ़ियों का बोझ इतना अधिक है कि ऐसा मालूम होता है कि वह सदा ही ग़लतियों का शिकार बना रहेगा। बचपन से ही वह मायापाश में ऐसा बँधा हुआ है कि बड़े मुश्किल से उसको मुक्त किया जा सकता है। मनुष्य, प्रकृति के अध्ययन से मुख मोड़ कर भूत-प्रेत का पीछा करने लगा जिन्होंने उसको सत्य के सीधे रास्ते से बहका दिया और जिससे बहक कर वह सुखी नहीं हो सकता। इसलिए हमारे अन्ध-विश्वास ने हमको जिन बुराइयों में डाल दिया है उनसे मुक्त होने का उपाय प्रकृति में ही खोजना चाहिए। सत्य एक है और उससे कभी हानि नहीं पहुँच सकती। भूल ही उस दुखदायी शृङ्खला का कारण है जिससे पुरोहित वर्ग और अत्याचारियों ने राष्ट्रों और जातियों को बाँध रखा है। भूल ही से वह बन्धन है जिसके अधीन जातियाँ हैं; भूल ही से धर्म की भीषणता है जिसके कारण मनुष्य भयभीत है और छाया और मृगतृष्णा के पीछे एक-दूसरे का गला घोंटता है। भूल ही से है घृणा और क्रूर दमन; वह

निरन्तर खून-खराबी और पृथ्वी पर उस दुखान्त नाटक का अभिनय जो स्वर्ग में हित के लिए किया जाता है। हमको अपने अन्धविश्वासों को दूर करना चाहिए और मनुष्य के साहस को बढ़ाना चाहिए और उसको प्रोत्साहन देना चाहिए कि वह अपनी बुद्धि के प्रति श्रद्धावान् हो। यदि कोई स्वयं भ्रममुक्त नहीं हो सकता तो कम से कम उसको ज्ञान के रास्ते में रोड़ा नहीं बनना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि दुनिया के निवासियों के लिए सबसे ज़रूरी चीज़ न्याय, सदिच्छा और शान्ति है।"

अठारहवीं सदी के फ़ान्सीसी दार्शनिकों ने भौतिकवाद के जो मौलिक सिद्धान्त रखे वे संक्षेप में ये हैं:—

"प्रकृति वह पूर्ण है जिसका मनुष्य अंश है और जिसके द्वारा वह प्रभावित होता है। अतिप्राकृतिक पुरुष कल्पना-प्रसूत है। मनुष्य एक भौतिक अस्तित्व है और उसका नैतिक अस्तित्व उसकी भौतिक प्रकृति का एक अंग-विशेष है; उसके काम करने का एक विशेष ढंग है जो उसके विशिष्ट संगठन का परिणाम है। दुनिया में वस्तु और गति के अलावा और कोई चीज़ नहीं है। दुनिया कार्यकारण-संबंध की एक अनन्त शृङ्खला है। विभिन्न वस्तुओं की एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है और उनके विभिन्न गुण और संयोग ही हमारे लिए किसी वस्तुविशेष की प्रतिकृति है। किसी वस्तु का प्रकार उसके गुणों और क्रिया के तरीक़ों का जोड़ है।

बर्कले—बर्कले (१६८५–१७५३) एक आदर्शवादी दार्शनिक था। उसने अपने समय के भौतिकवाद के विरुद्ध एक जिहाद जारी रक्खी। उसकी दलीलें अधिकतर लॉक की दलीलों के खण्डन में ही दी गई हैं। बर्कले ने यह तो मान लिया कि इन्द्रियानुभूति किसी बाहरी कारण से ही होती है, लेकिन इस कारण को भौतिक न मानकर उसने आध्यात्मिक करके माना है। उसकी दलील मोटे रूप से इस प्रकार है:—"हम जो कुछ अनुभव करते हैं, वह है गुण। यह मानसिक अनुभूति है। लॉक का यह कहना ठीक नहीं है कि इन गुणों के पीछे कोई गुण-रहित पदार्थ है। हम किसी ऐसे पदार्थ की

कल्पना नहीं कर सकते जो गुण-रहित हो। गुणों के कारण ही पदार्थ का अस्तित्व है। यदि गुण हटा लिए जाएँ तो कोई पदार्थ ही न रह जाए। हम वस्तु को नहीं जान सकते। हमको केवल गुणों की ही अनुभूति है। इसलिए पदार्थ भौतिक नहीं मानसिक है। मानसिक गुणानुभूति का कारण है ईश्वर। ईश्वर के विधान से ही हमको अनुभूति होती है। पदार्थ का अस्तित्व उसकी अनुभूति पर ही निर्भर है। यदि अनुभूति नहीं है तो पदार्थ का अस्तित्व नही है। तो क्या मेरी ही अनुभूति दुनिया है? नहीं, मेरी अनुभूति न होने पर भी वह ईश्वर की अनुभूति के अन्तर्गत हो सकता है।"

प्रश्न हो सकता है कि यदि भौतिक वस्तु धारणामात्र है तो उन वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध में एक नियम की प्रतीति कैसे होती है? बर्कले ने उत्तर दिया कि धारणाओं के परस्पर सम्बन्धों का नियामक ईश्वर है और इन धारणाओं के परस्पर सम्बन्ध का नियम ही पदार्थों का नियम जैसा जान पड़ता है। वास्तव है केवल ईश्वर अथवा वे आत्माएँ जिनकी उसने सृष्टि की है और वे धारणाएँ तथा अनुभूतियाँ जिनका नियामक भी वही ईश्वर है।

बर्कले की दलील सुनिए:—ख़याल कीजिए कि मैं अपनी जीभ से अपने दाँतों को छू रहा हूँ और अपने से आप यह प्रश्न करता हूँ—"मैं क्या अनुभव कर रहा हूँ?" इसका सहज उत्तर होगा कि दाँतों के अस्तित्व की चेतना मुझमें हो रही है। लेकिन क्या यह उत्तर सही है? वास्तव में जिसका मैं अनुभव कर रहा हूँ क्या वह मेरी जिह्वा की एक अनुभूति नहीं है?—वह अनुभूति जिसका कारण है जिह्वा और दाँतों का संस्पर्श। और क्या अनुभूति एक मानसिक पदार्थ नहीं है? अनुमान कीजिए कि मैं अपनी उँगलियों को मेज़ के ऊपर दबाता हूँ; तो क्या जिस चीज़ का मैं अनुभव करता हूँ वह मेज़ है? जो उत्तर एकाएक सामने आता है, जाँच करने पर वह ग़लत साबित होता है। वर्तमान अनुभव का विषय, जिसकी चेतना हमको है, मेरी उँगलियों में एक अनुभूति है। इस क्षेत्र में अनुभूति कठोर-

पन, चिकनेपन और ठंडेपन की है। एक और उदाहरण लीजिए। अगर मैं आग से एक गज़ की दूरी पर रहूँ तो मुझे गर्मी अनुभव होती है और मैं यह कहता हूँ कि गर्मी आग का एक गुण है। लेकिन यदि मैं आग के और नज़दीक जाऊँ तो गर्मी बढ़ने लगती है और पीड़ा होने लगती है। यह पीड़ा अवश्य ही मुझमें है न कि आग में, और पीड़ा चूँकि गर्मी का ही एक बढ़ा-चढ़ा रूप है, नतीजा यह निकलता है कि गर्मी भी मेरी एक अनुभूति है न कि आग का एक गुण। किसी किसी कीटाणु का पैर इतना छोटा होता है कि मैं बिना खुर्दबीन के सहारे उसको देख नहीं सकता। तो क्या मैं यह समझूँ कि वह कीटाणु अपना पैर स्वयं नहीं देख सकता? ऐसा संभव नहीं। तो नतीजा यह निकालना पड़ेगा कि देखनेवाले के मन के गुणानुसार यह पैर लम्बा या छोटा होता रहता है; दूसरे शब्दों में कीटाणु के लिए पैर की लम्बाई एक है और हमारे लिए दूसरी। लेकिन एक ही समय पैर की दो लम्बाइयाँ नहीं हो सकतीं; इसलिए माप हमारी दृष्टि का एक गुण है न कि उस वस्तु का जिसको हम देखते हैं। दूसरे शब्दों में माप वस्तुओं का असली गुण नहीं है, यह केवल एक आपेक्षिक गुण है जो देखनेवाले के मन के ऊपर निर्भर है।

इस प्रकार की दलीलों से यह दिखलाया जा सकता है कि वस्तुओं के प्रतीयमान गुण जाँच करने पर देखनेवाले की मन की अनुभूतियाँ ही जान पड़ती हैं। दृष्टि-विज्ञान के सिद्धान्त से भी इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है। दृष्टि की अनुभूति को ले लीजिए। इस क्रिया का संक्षेप में यह वर्णन किया जा सकता है; वस्तु आलोक की किरणें फेंकती है जो आकाश में चलकर आँखों के परदे के ऊपर पड़ती है। यह परदा स्नायु-कणों का बना होता है और किरणों के कारण इनमें गति उत्पन्न हो जाती है। यह गति आँखों के स्नायु के रास्ते चलकर मस्तिष्क को सन्देश पहुँचाती है, जहाँ के कणों में एक स्पन्दन होने लगता है। इसी स्पन्दन से, यह कोई नहीं जानता कैसे, एक चेतना उत्पन्न होती है जिसको हम वस्तु

के दर्शन का नाम देते हैं। इसी प्रकार सुनने की क्रिया है। आवाज़ वायु-मंडल में एक प्रकार का स्पन्दन है; यह कान के परदों पर पड़ता है। स्नायुओं के द्वारा यह प्रभाव मस्तिष्क तक पहुँचता है। मस्तिष्क के स्नायु-कणों में एक खलबली मच जाती है जिसके कारण एक चेतना की उत्पत्ति होती है और इसी को हम सुनना कहते हैं।

उपमा की भाषा में हम यह कह सकते हैं कि मस्तिष्क एक अँधेरी कोठरी है जिसमें एक प्रज्वलित पट है और इसको प्रज्वलित करती है चेतना। बाहरी दुनिया की वस्तुयें जिनका हम अनुभव करते हैं हमारी इन्द्रियों में उत्तेजना डाल देती हैं। इन्द्रियाँ और स्नायु उत्तेजना को अँधेरी कोठरी तक पहुँचा देती हैं। नतीजा यह होता है कि इन उत्तेजनाओं के कारण-स्वरूप उन वस्तुओं का चित्र या प्रतिकृति प्रज्वलित पट पर पड़ती है। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि किसी वस्तु को हम जानते हैं तो इसका अर्थ यह है कि उस वस्तु का चित्र या प्रतिकृति मस्तिष्क-रूपी अँधेरी कोठरी के उस पट पर पड़ती है जिस पट को चेतना प्रज्वलित कर रखती है। इस प्रकार ज्ञान-क्रिया में तीन अंग सम्मिलित हैं; (१) मन जो जानता है, (२) बाहरी वस्तु; (३) उस वस्तु की प्रतिकृति जो चेतना के पट पर पड़ती है। (१) मन, (३) प्रतिकृति को तो जानता है लेकिन (२) वस्तु का उसको कोई ज्ञान नहीं है; न हो ही सकता है क्योंकि (१) और (३) के बीच में (२) सर्वदा बाधा-स्वरूप उपस्थित हो जाता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या (२) का रखना ज़रूरी है? ,अगर हम (२) को जान नहीं सकते तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि (२) के ही कारण (३) की उत्पत्ति होती है?

आख़िर यह कहा जायगा कि हमारे ज्ञान की विषयीभूत जो धारणायें और अनुभूतियाँ हैं इनके कारण स्वरूप कोई वस्तु तो होगी ही। वस्तु हमारी चेतना के अन्तर्भूत अपनी प्रतिकृति से भिन्न भले ही हो लेकिन हमारे बाहर और हमसे स्वतंत्र उनकी एक दुनिया होनी ही चाहिए। यही लॅाक का कथन है। लेकिन बर्कले का सिद्धान्त लॉक के सिद्धान्तों

से दो दिशाओं में भिन्न है। एक तो यह कि प्राथमिक और दूसरे गुणों के विभेद को वह मिटा देता है और दूसरा यह कि वस्तु का भी वह लोप कर देता है।

दोनों बातों को एक एक करके लीजिए। जहाँ तक गुणों का सम्बन्ध है, प्राथमिक और दूसरे गुणों का विभेद मनमाना है। जिन दलीलों से एक अप्राथमिक गुण, उदाहरणार्थ गर्मी, को अनुभव करनेवाले के मन की एक धारणा बताया जाता है उन्हीं दलीलों से शक्ल या बनावट या ठोस होना जैसे प्राथमिक गुणों को भी धारणा कहा जा सकता है। दोनों मानसिक अनुभूतियाँ हैं और इन दोनों में विभेद करने का वास्तव में कोई कारण नहीं है।

अब दूसरी बात को ले लीजिए। किसी वस्तु-विशेष के गुणों को एक एक करके अलग कर लीजिए। क्या रह जायगा? जलेबी ले लीजिए, यह कुरकुरी, रसीली, मीठी इत्यादि होती है; एक एक करके सब गुणों को हटा लीजिए, क्या रह जायगा? वह क्या है जिसके ये सब गुण थे और अब नहीं है? कह सकते हैं कि यह जलेबी का वह अवशिष्ट है जो इसके रंग, स्वाद आदि निकालने के बाद रह जाता है। लेकिन क्या कोई अवशिष्ट रह जाता है? अगर हाँ, तो इसलिए कि उसके कुछ गुण अब भी बाक़ी बचे हैं। यदि ये गुण भी हटा लिए जायँ तो बाक़ी कुछ नहीं बचता। अर्थात् कोई ऐसा मौलिक पदार्थ नहीं है जिसमें ये गुण मिलते हैं और जो स्वयं इन गुणों से रहित है। दूसरे शब्दों में लॅक का 'पदार्थ' कपोल-कल्पित मात्र है। गुण यदि देखनेवाले के मन की धारणामात्र है और गुण की बुनियाद में कोई पदार्थ नहीं है, तो रह गया केवल मन। वस्तु मरीचिका-मात्र है। इसका अर्थ यह नहीं कि दैनिक जीवन के परिचित पदार्थ कुर्सी, मेज़ आदि का कोई अस्तित्व नहीं है, लेकिन यह कि ये विश्लेषण करने पर मन की धारणा जान पड़ती हैं। ज्ञानगोचर होने पर ही इन वस्तुओं का अस्तित्व निर्भर है। बर्कले के मतानुसार धारणा हमारे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती। उनका स्वतंत्र अस्तित्व है, क्योंकि इन

धारणाओं का निवास ईश्वर के मन में है। प्रत्यक्ष ज्ञान और कल्पना में यही अन्तर है। जिन धारणाओं की हम कल्पना करते हैं उनका ज्ञान ईश्वर के मन को नहीं है; वे हमारे ही मन की सम्पत्ति हैं। ईश्वर के मन को हमारी उन्हीं धारणाओं का ज्ञान है जिनको हम प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिए, बर्कले के सिद्धान्त के अनुसार, यदि हम उसका प्रत्यक्ष अनुभव न करें तो भी बाहरी दुनिया का अस्तित्व क़ायम रहता है क्योंकि ईश्वर के मन में यह विराजमान रहता है।

ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास की बुनियाद पर बर्कले का सारा दर्शन प्रतिष्ठित है। इस अस्तित्व को अप्रमाणित करने से यह सारा दर्शन टूट जाता है। बर्कले की दलील की कमजोरी यह है कि वह चीज़ों को तो मानता है लेकिन उस पदार्थ को नही मानता जिससे कि ये चीज़ें बनी हैं। आज के प्रयोग विज्ञान ने इस पदार्थ का भी विश्लेषण किया है, इसलिए आज यह नहीं कहा जा सकता कि यह भ्रम मात्र है। बर्कले की दर्शनिक प्रथा, सब अभौतिकवादी दर्शनों की तरह, चेतना की धारणा के साथ प्रतिष्ठित रहती है या टूट जाती है। यह प्रथा तभी तक तर्क संगत प्रतीत होती है जब तक चेतना को एक स्वतंत्र सत्ता मान लिया जाय जो प्रत्यक्षान्भूति के बाद आती है और जो इसके द्वारा प्रभावित होती है। लेकिन यदि इस स्वतः सिद्ध चेतना को मानने से इन्कार किया जाय, जैसा कि वर्तमान शरीर रचनाशास्त्र हमको बताता है तो आदर्शवाद निराधार हो जाता है। मन जैविक पदार्थ (Organic matter) का एक गुण है।

कांट—कान्ट (ई० १७२४–१८०४) दार्शनिक होने के साथ ही साथ एक बहुत बड़ा गणितज्ञ भी था। उसकी पुस्तक 'प्रकृति का साधारण इतिहास और ऊर्द्ध्वलोक का सिद्धान्त' विख्यात है। कान्ट ने ह्यूम के अज्ञेय-वाद से विज्ञान का उद्धार करने का प्रयत्न किया लेकिन साथ ही साथ धर्म की प्रतिष्ठा को भी क़ायम रखना चाहा।

कान्ट का कहना था कि दो अलग अलग राज्य है जिनमें दो विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निवास है। एक में है वह वस्तु जैसी कि वह अस-

लियत में है (Noumena)और दूसरे में है उसका वह रूप जैसा कि वह ज्ञाता को प्रतीत होता है (Phenomena)। इस पार्थक्य के कारण हम वस्तु:-स्वरूप को (जैसा कि वह वास्तव मे है) नहीं जान सकते। ऐसा कहने का कारण क्या है ?

कान्ट के अनुसार मन के साथ जुड़ी हुई कुछ व्यापक धारणाएँ होती है जिनमें कुछ का नाम उसने दिया" स्वतः प्राप्त ज्ञान के रूप", (विस्तार, समय) और कुछ को ज्ञान के सिद्धान्त' (उदाहरणार्थ परिमाण, गुण और कार्य-कारण सबंध) । जो कुछ हम जानते है वह इस ढाँचे के अन्दर ढल कर आता है और इसलिए इसके अनुरूप होता है। इस ढाँचे के अन्दर पड़ने से यह किंचित परिमाण में परिवर्तित हो जाता है। दूसरे प्रकार से हम ऐसा कह सकते है कि किसी वस्तु को जानने के लिए ज्ञाता कुछ शर्त लगाता है। इन शर्तों के कारण, ज्ञात होने के पूर्व वह वस्तु जैसी थी उससे ज्ञात वस्तु कुछ विभिन्न बन जाती है। एक उदाहरण से यह और स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए कि जन्म भर के लिए एक जोड़ा नीला चश्मा नाक में चिपकाकर मेरी पैदाइश होती है।"जो कुछ मै देखूँगा वह नीला होगा और इसलिए मै कहूँगा कि नीला होना एक सार्वभौमिक और सर्वव्यापी गुण है। लेकिन मेरा यह कहना ग़लत है क्योंकि नीला-पन वस्तुओं का निजी गुण नही है बल्कि उसका कारण है वे अवस्थाएँ जिनमें मै उनको देखता हूँ। दूसरे शब्दों में मेरे देखने की शर्त ही है कि मैं उनको नीला देखूँ। कान्ट के मतानुसार मन के साथ कुछ मानसिक चश्में लगे होते है जिनके कारण ज्ञात वस्तु कुछ परिर्वातित हो जाती है जैसे कि नीले चश्मे के कारण वस्तु नीले रंग की दिखाई देती है। इसी उपमा के अनुसार मन के साथ दो प्रकार के चश्मे लगे होते है। एक है स्वतः प्राप्त ज्ञान के रूप (विस्तार और समय)। हमारी इन्द्रियानुभूति समय और विस्तार के अधीन है। बाहरी जगत की ज्ञात घटनाएँ समय और विस्तार में घटित होती है ।

जब हम बाहरी दुनिया का अनभव करते है तो असलियत में जो चीज़

दी रहती है वह रूपहीन कच्चा माल है, जिसको कान्ट 'वस्तु' कहता है। स्वतः प्राप्त ज्ञान के रूप के रास्ते जब यह कच्चा माल मस्तिष्क में पहुँचता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि यह विस्तार और समय के साथ सम्बन्धित है। हर एक चीज़, जिसको हम जानते हैं, या तो यहाँ मालूम पड़ती है या वहाँ, वह या तो 'तब' अथवा 'अब' में मालूम पड़ती है। इस प्रकार स्वतः प्राप्त ज्ञान के रूप के कारण सारी दुनिया, समय और विस्तार से बँधी जान पड़ती है।

अब दूसरे जोड़े चश्मे का काम शुरू होता है जिसको कान्ट कहता है "कैटिगोरिज़"या 'समझ के सिद्धान्त'। इसके उदाहरण है गुण, परिमाण, पदार्थ और कार्य-कारण-सम्बन्ध। जिन चीज़ों को हम जानते हैं, उनके ऊपर जब हम विचार करते है तब हमको महसूस होता है कि हर चीज़ एक पदार्थ है, एक परिमाण है, कुछ गुणों का समूह है, कुछ चीज़ों का असर और कुछ का कारण है। इसलिए कान्ट जब यह कहता है कि "समझ के सिद्धान्त" के रूप के भीतर से किसी चीज़ की हमको जानकारी होती है तब उसका अर्थ यह है कि अनुभव के विषय के साथ मन कुछ मानसिक चीज़ों को मिला लेता है जैसे गुण, परिमाण इत्यादि। इसलिए जिस चीज़ की हमको जानकारी होती है वह एक सम्मिश्रित वस्तु है। उसमे कुछ तो रूपहीन पदार्थ होता है, जिसको, 'सहज प्रत्यय के रूप' और 'समझ के सिद्धान्त' मिलकर ऐसा बना देते हैं, कि हमको न केवल उस वस्तु की जानकारी होती है, बल्कि उसको हम पहचान सकते हैं। इसी के द्वारा जब रास्ते पर आदमी की शक्ल का कोई जाता है तो उसकी पहचान कर सकते है कि वह आदमी है। कैटिगोरी या मन का अस्त्र, प्रत्यक्षीभून ज्ञान को पारस्परिक-सम्बन्ध-ज्ञान, या नियमों के ज्ञान में परिणत करता है। यह अनुभव को विज्ञान में रूपान्तरित कर देता है।

उपर्युक्त कार्यवाहियाँ, मन की उन कार्यवाहियों की पूरी सूची नहीं है, जो कि वह इन्द्रियानुभूत रूपहीन वस्तु पर करता है, लेकिन इससे पता चलता है कि अनुभूति के साथ साथ मन कितना कार्यरत रहता है।

दुनिया जैसी कि हम उसे जानते हैं, यानी जानने की प्रक्रिया में जिस दुनिया का मन आंशिक रूप से परिवर्तन करता है, उसका नाम कान्ट ने रक्खा है—"फ़ेनोमेना" (प्रतीयमान जगत्); इस जगत् के लिए बर्कले का सिद्धान्त लागू है। लेकिन दुनिया जैसी कि वह वास्तव में है, जो हमारे ज्ञान पर आधारित नहीं है, उसका नाम कैंट ने रक्खा "नूमेना" (वस्तु-स्वरूप)। इस दुनिया के लिए बर्कले का सिद्धान्त लागू नहीं होता।

-कांट के सिद्धान्त दर्शन के एक और मौलिक प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते है। प्रश्न यह है, कि वस्तुओं के व्यवहार में मनन-क्रिया का नियम क्यों लागू होता है? तर्क के नियम और गणित के अंक मानसिक उपज है; वे यह वर्णन करते है कि मानसिक क्रिया कैसे चलती है। हम सोचते है कि तीन और दो मिलकर पाँच होते है, हर कार्य का एक कारण होता है, ऐसा नहीं हो सकता कि कोई पेड़ आम का हो और न भी हो, क्योंकि हमारा मन ऐसा ही बना हुआ है। ऐसा सम्भव है कि कुछ जीवों का, जिनका मानसिक संगठन भिन्न है, इन विषयों पर विचार भी भिन्न हो। जैसी हमारे मन की धारणाएँ है, दुनिया वैसी ही है, अथवा यह कि हमारे मानसिक विचार की शैली वस्तुओं के आचरण पर भी लागू होगी, ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं।

विज्ञान में यह जिज्ञासा और तीव्र हो जाती है। विज्ञान का रास्ता गणित के तर्क और अनुभववाद के बीच का रास्ता है। गणित की तरह विज्ञान में भी तर्क का स्थान है, लेकिन भेद यह है कि विज्ञान वास्तव के अनुभव द्वारा इस तर्क को जाँच लेता है; संक्षेप में वैज्ञानिक नतीजों की जाँच की जाती है। गणित की सत्यता कोई समस्या नहीं है क्योंकि गणित के नतीजों को वास्तव द्वारा जाँचने की आवश्यकता नहीं। इन्द्रियानुभूति भी कोई समस्या खड़ी नहीं करती, क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ है और हम अनुभव करते हैं। समस्या यह है कि गणित के तर्क का प्रयोग अनुभूति के क्षेत्र में क्योंकर होता है? ऐसा होता है, विज्ञान इसका प्रमाण है; क्योंकि वैज्ञानिक प्रक्रिया यही है—तर्क सिद्ध ज्ञान का प्रयोग वस्तुओं के

आचरण के क्षेत्र मे किया ज ता है। उदाहरण के लिए विज्ञान माध्याकर्षण के नियम का आविष्कार करता है और उसके आधार पर भविष्यवाणी करता है कि वस्तुओं का आचरण इसके अनुसार होगा। और ऐसा होता है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक नियम तार्किक बुद्धि का अनुभूति के क्षेत्र में प्रयोग है। समस्या यह है कि तर्क से हम जिस बात का अनुमान करते हैं वह प्रयोग में सही क्यो उतरती है ?

इस समस्या पर कान्ट का उत्तर हमको एक बार फिर प्रज्ञावाद और इन्द्रियानुभूतिवाद के झगड़े में डाल देता है। यह तो स्पष्ट ही है, कि जिन वस्तुओं का हम इन्द्रियों से अनुभव करते है और जिनको हम बुद्धि-द्वारा ग्रहण करते है, उनमे अन्तर है, जैसे दो जोड़ी वस्तुओं का एक बच्चा द्वारा चार गिना जाना और बुद्धि-द्वारा इस व्यापक सत्य पर उपनीत होना कि दो और दो चार होते है ये दोनों बाते भिन्न है। हमारी व्यापक धारणाएं हमारी विशिष्ट इन्द्रियानुभूतियों मे पृथक् है, इन दोनों के रूप तथा प्रयोग की दिशाये भिन्न है, इसलिए यह प्रश्न उठता है कि हमारी स्वतः प्राप्त धारणाओं का अथवा सहज प्रत्यय का प्रयोग इन्द्रियानुभूति के विषयों पर क्योंकर होता है ? उदाहरण के लिए, किसी दो वस्तुओं के बीच आकर्षण का यह नियम, कि यह उनकी दूरी के वर्गफल के विपरीत अनुपात में होता है, व्यवहार-क्षेत्र मे क्यो लागू होगा ?

यही प्रश्न प्रज्ञावादी और इन्द्रियानुभूतिवादी के बीच झगड़े की जड़ था। प्रज्ञावादी इन्द्रियानुभूति के विषय को ही उड़ा देना चाहता है; उसके लिए दुनिया कार्य कारण-सम्बन्ध से बँधी हुई है--एक वस्तु को जानने से ही सारी दुनिया का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह उसी का अवश्यम्भावी परिणाम है। उसके लिए कोई ऐसी वस्तु नही जिसका अस्तित्व घटनामात्र है। सोने का रंग पीला है और इसका एक विशिष्ट गुरुत्व है; इस विशिष्ट गुरुत्व और पीले रंग का बराबर साथ है। लेकिन इनका कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नही है। इसलिए इस सारी घटना को ही प्रज्ञावादी उडा देना चाहता है। इन्द्रियानुभूतिवादी कहता

है कि बुद्धि से किसी विषय का अस्तित्व नहीं जाना जा सकता; इसके लिए एक ही उपाय है—वास्तविकता का प्रत्यक्षीकरण। जिस प्रकार प्रज्ञावादी के लिए प्रत्यक्षानुभूति का कोई स्थान नहीं है, उसी प्रकार इन्द्रियानुभूतिवादी के लिए उन व्यापक सिद्धान्तों का कोई स्थान नहीं, जिन पर पहुँचने के लिए हम दृश्य वस्तुओं का एकत्रीकरण करते हैं, उनका सिलसिला जोड़ते हैं और उनकी तुलनात्मक आलोचना करते हैं। इसलिए यदि इन्द्रियानुभूतिवादी सही है तो बुद्धि-प्राप्त ज्ञान असम्भव हो जाता है; यदि प्रज्ञावादी सही है तो यह समझाना असम्भव है कि जानने की भी कोई वस्तु है। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि हम अपनी अनुभूतियों पर बुद्धि का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार जिन नतीजों पर पहुँचते हैं उनका प्रयोग भी हम अपनी पारिपार्श्विक दुनिया पर करते हैं। समस्या थी इन दोनों के बीच एक सामञ्जस्य स्थापित करने की।

अनुभव के समक्ष प्रत्यक्षानुभूति का विषय मात्र होता है, लेकिन उससे हम व्यापक सिद्धान्त पर उपनीत होते हैं, जो कि प्राकृतिक नियमों की तरह प्रकृति पर लागू होता है। प्रश्न यह है कि यह क्योंकर सम्भव होता है? इसका उत्तर काट ने यह दिया कि अनुभूति का विषय कच्चे माल की तरह नहीं होता जिससे कि हम वस्तुस्वरूप का अनुभव कर सकें। हमारी अनुभूति का विषय वह वस्तु नहीं है जैसा कि वह वास्तव में है, बल्कि वह वस्तु, जिसको हमारी बुद्धि ने ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया में कच्चे माल से तैयार माल में परिणत कर दिया है। इस कारण यह तो उम्मीद की जा सकती है कि यह वस्तु उन नियमों का पालन करेगी जिनसे हमारी बुद्धि इनको मण्डित करती है। चूँकि इन्द्रियानुभूति का विषय कच्चे माल की तरह नहीं है बल्कि ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया में तैयार माल की तरह बना दिया गया है, इसलिए इस पर प्रज्ञावादी का बुद्धि-सिद्धान्त लागू होता है। यह कहा नहीं जा सकता कि ये नियम वस्तु-स्वरूप (वस्तु जैसा कि वह है) पर लागू होते हैं या नहीं, लेकिन यह कोई महत्त्व का विषय नहीं, क्योंकि वस्तु-स्वरूप को हम जानते ही नहीं।

दर्शनशास्त्र को कान्ट का सबसे बड़ा दान यह है कि उसने अनुभवकर्त्ता की क्रियाशीलता पर ज़ोर दिया है। प्रत्यक्षीकरण करते हुए मन निष्क्रिय नहीं बल्कि क्रियाशील रहता है। मन प्रकृति के लिए नियमदाता का काम करता है और यह विधान देता है कि किन शर्तों पर और किन रूपों में हमारी जानी हुई दुनिया हमारे सामने आयेगी। जब हम यह प्रश्न करते हैं कि प्रतीयमान जगत् के विषय में हमें स्वतः प्राप्त ज्ञान किस प्रकार होता है, तो कांट का यह उत्तर है कि जो कुछ दिखाई देता है, इस ज्ञान ने ही उसकी सृष्टि की है। कार्यकारण के सम्बन्ध का नियम निःसन्देह एक मानसिक अस्त्र है, लेकिन यह नियम सारी दुनिया के लिए लागू है—जिस दुनिया को हम जानते हैं। क्योंकि वह दुनिया जिसको हम जानते हैं इसी मानसिक अस्त्र की उपज है। वस्तुओं के विषय में हमारा स्वतः प्राप्त ज्ञान वही है जिसको हमने स्वयं उनके अन्दर भरा है।

यह स्वतःप्राप्त ज्ञान (सहज प्रत्यय के रूप, यथा विस्तार और समय, और विचार की श्रेणियाँ, यथा पदार्थ और गुण, कार्य और कारण आदि) अतीन्द्रिय है, क्योंकि यह ज्ञान अनुभव से प्राप्त नहीं होता; स्वयं अनुभव इसके बिना सम्भव नहीं। लेकिन स्वतः प्राप्त ज्ञान के इन रूपों का प्रयोग अनुभव के क्षेत्र के बाहर नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए ईश्वर और भविष्य जीवन मनुष्य के अनुभव के बाहर है; दलीलों से न तो इनको प्रमाणित किया जा सकता है और न अप्रमाणित किया जा सकता है। परन्तु इन पर विश्वास किया जा सकता है, किसी तथ्य की बुनियाद पर नहीं बल्कि व्यावहारिक कारणों से। मन के क्रिया-कलाप वास्तव के अन्तर्गत हैं। उत्तरदायित्व की भावना, वीरता के प्रति श्रद्धा, सौन्दर्यानुभूति की पुलक, मनुष्य की इच्छा की स्वतंत्रता, ये इतने ही सत्य हैं जैसे आग की गर्मी, या ग्रह-नक्षत्रों की गति। संकीर्ण विज्ञान के हेतु इनसे मुँह नहीं मोड़ा जा सकता।

कांट का नीति-विषयक सिद्धांत अनोखा है। उसने मानसिक शक्तियों को तीन हिस्सों में विभाजित किया है:—इन्द्रिय, बुद्धि और इच्छाशक्ति।

बाहरी दुनिया का जो कुछ हमारे सामने आता है, उसको इस योग्य बनाने के लिए कि ज्ञान उसको ग्रहण कर सके, बुद्धि और इन्द्रियों का प्रयोग किया जाता है। लेकिन किसी चीज़ के करने को इच्छा करते समय हमें जो ज्ञान होता है वह न तो इन्द्रियभूत है, न बुद्धिभूत। यहाँ कोई बाहरी दुनिया नहीं जिसके और हमारे बीच बुद्धि और इन्द्रियाँ दखल दे सकें। इच्छाशक्ति का सचालन अपने साथ स्वतन्त्र कार्यशीलता की एक शक्ति ला देता है, जिसके कारण हम इच्छानुसार इन्द्रियभूत तथा बुद्धिभूत ज्ञान का प्रयोग करते है। यह कार्यकारण के उस नियम से, जिसका सारी दुनिया पर प्रभुत्व है, एक मुक्ति की भावना ला देता है।

काट का कहना है कि जब इच्छा से प्रेरित होकर कोई काम करते है तो हम स्वतन्त्र नहीं होते। हमारी इच्छाओं के मूल दो ही समझे जा सकते है। या तो इनका कारण शारीरिक घटनाएँ है या मानसिक वृत्तियाँ। शारीरिक घटना––जैसे शरीर मे रासायनिक पदार्थ की कमी के कारण भोजन की इच्छा, या अवयव के संगठन के एक विशेष अवसर पर काम-तृप्ति की इच्छा। मानसिक वृत्ति––जैसे क्रोधी स्वभाव। यदि किसी का क्रोधी स्वभाव है तो आप कह सकते है कि वह क्रोधवश हो जायगा। उसके स्वभाव का यदि पूरा ज्ञान हो तो आपकी भविष्यवाणी सही उतरेगी। इसी बात को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि स्वभाव हमें किसी काम को करने के लिए बाध्य करता है तो हमारी इच्छा और कार्य स्वतन्त्र नही कहे जा सकते।

कांट के मतानुसार कामाधीन जीव होने के नाते हम प्रतीयमान जगत् के अंश है और हमारे इच्छा-जनित कार्य और भावनाएँ भौतिक जगत् की वस्तु की गति की तरह पूर्व निर्धारित हैं, यानी, वे कार्यकारण के नियम के अधीन है। लेकिन जब हम अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा निर्धारित किए हुए नियम के अनुसार चलते हैं, तब हम प्रतीयमान जगत् के ऊपर उठ जाते है और वास्तव-जगत् के संस्पर्श में आ जाते हैं। और जहाँ तक मनुष्य अपनी प्रकृति के नियमानुसार स्वतन्त्र

रूप से इच्छाशक्ति का प्रयोग करता है, वह स्वयं वास्तव-जगत् का अंश है।

मनुष्य राग-विराग-मय संसार का निवासी होने के नाते, प्रतीयमान जगत् की तरह कार्य-कारण-सम्बन्ध के नियम के अधीन है। लेकिन जब वह अपनी इच्छा और आवेष्टन के बावजूद भी नीति का नियम और अपने कर्तव्य का पालन करता है तब वह स्वतन्त्र है। इससे भी अधिक, वह नीतिवान् है; कारण यह है, चूँकि, इच्छाशक्ति नैतिक नियम की जन्मदात्री है, स्वतन्त्र रूप से काम करने का अर्थ ही सत्य-पथ पर चलना है। कांट ने कहा कि इस दुनिया में या इस दुनिया से परे पवित्र इच्छा के सिवा किसी चीज को बिना किसी शर्त या हिचक के साथ अच्छी नहीं कहा जा सकता। लेकिन उचित काम क्या है? कांट ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया उससे हमको कोई विशेष मदद नही मिलती। इच्छाशक्ति का यह नियम है कि हम उन व्यापक सिद्धान्तों का अनुसरण करें जिनको हम स्वतः नीतियुक्त समझते है। ये सिद्धान्त ऐसे है, जो बावजूद अपनी हालात या ज़रूरत के, हर एक के लिए मान्य है; उदाहरणार्थ-- असत्य न बोलना, निर्दयता से दया अच्छी है, बेईमानी से ईमानदारी **अच्छी** है इत्यादि। ये बुद्धि के प्रतिकूल भी नही है। बल्कि इसके विपरीत, यदि हम इच्छाशक्ति-प्रसूत कार्यों की बुद्धि (जिस बुद्धि का कांट ने 'व्यावहारिक बुद्धि' नाम दिया है) द्वारा जाँच करे तब हम यह महसूस करते हैं कि इच्छा-शक्ति जिन सिद्धान्तों का प्रवर्तन करती है वे ही ऐसे हैं जिनमें कोई अन्तर्विरोध नहीं है। उदाहरण के लिए, हर एक सच बोले, इसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं है। अब, यदि हर एक झूठ बोले तो कोई किसी का विश्वास नही करेगा और झूठ बोलने का कोई मतलब नही रह जायगा। जब कांट कहता है कि नीति-विगर्हित काम अन्तर्विरोधी है तब उसका यही मतलब है। ऐसी झूठी नीति का सार्वजनिक प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि यह निरर्थक हो जाती है। इसलिए ऐसी नीति के अनुसार काम करो

जिसके सार्वजनिक प्रयोग मे तुम्हें कोई आपत्ति न हो, यह कांट का महान् उपदेश है।

साधारण नैतिक सिद्धान्त की शक्ति और प्रकृति के वर्णन के आधार पर कांट के इस वचन की सार्थकता हो सकती है, लेकिन प्रतिदिन के जीवन की वास्तविकता में यह हमें कोई रास्ता नही दिखाता। सत्य बोलना—इसी को ले लीजिए। कांट के अनुसार यह वाध्यतामूलक है और इसमें कोई व्यतिरेक नहीं हो सकता। परन्तु वास्तव जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब झूठ बोलना ही अच्छा होता है, क्योंकि सच बोलने से हानि हो सकती है। उदाहरण के लिए एक अच्छे आदमी को ले लीजिए जो खून किये जाने के डर से छिपा हुआ है। क्या खूनी को उस आदमी का पता बता देना चाहिए जिसको वह खून करना चाहता है ?

हेगेल

हेगेल—(१७७०-१८३१) ने आदर्शवादी दर्शन को चरम सीमा तक पहुँचाया। कांट की वस्तुस्वरूप-सम्बन्धी धारणा का हेगेल ने प्रत्याख्यान किया। उसने बतलाया कि वस्तु-स्वरूप की धारणा, वस्तु को उसके आवेष्टन, गुणों और अवस्थाओं से अलग करके देखना है और इसी लिए वह ज्ञान से परे है।

कांट के जगत् की तरह हेगेल के जगत् का स्रष्टा भी मन ही है। लेकिन कांट के असली जगत् और दृश्यमान जगत् के द्वित्व का हेगेल ने अंत कर दिया। इस अर्थ में हेगेल और स्पिनोज़ा के बीच समानता है। स्पिनोज़ा की आत्मा तथा मन और भूत अभिन्न हैं। एक दूसरे का रूप है। हेगेल के लिए भी 'पूर्ण' सब कुछ है। दृश्यमान जगत् उसी 'पूर्ण' का अंग और साथ ही रूप भी है।

इस 'पूर्ण' की व्याख्या क्या है ? किसी वस्तु की प्रकृति पर विचार करने से हम क्या देखते हैं ? यह कि इसको पूरी तरह समझने के लिए दूसरी वस्तुओं से तुलना करने की आवश्यकता है। यह स्वयं पूर्ण नहीं है और

इसलिए यह समझा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए एक मुर्ग़ी का अण्डा गेंद से कम गोल है, चमड़े से अधिक टूटनेवाला है, गौरैया के अण्डे से बड़ा है, शुतुरमुर्ग़ के अण्डे से छोटा है, इत्यादि। यदि मुर्ग़ी के अण्डे के विषय में ये सत्य घटनाएँ न होती तो यह जो कुछ है उससे कुछ भिन्न ही होता। इसलिए हम कहते है कि तमाम घटनाओं को मिलाकर ही वस्तुविशेष बनी है। उपर्य्युक्त उदाहरण में प्रत्येक घटना दूसरी वस्तुओं से इस अण्डे के सम्बन्ध का द्योतक है। इसलिए दूसरी वस्तुओं से इसके सम्बन्ध इसकी प्रकृति को बनाते हैं। लेकिन इस अण्डे का सम्बन्ध दुनिया की हर चीज़ से है—यह सम्बन्ध चाहे समता का हो चाहे विषमता का। इसलिए अण्डे को पूर्णरूप से जानने के पहले हर विद्यमान वस्तु की गणना करनी पड़ेगी, क्योंकि अण्डा (जो कुछ भी वह है) में हर वस्तु का अस्तित्व सम्भावित है। इसलिए वास्तविकता एक सम्पूर्ण इकाई (**unit**) है जिसके विभिन्न अंश आपस में सम्बन्धित हैं और जो अंश मिल कर इस इकाई की सृष्टि करते हैं। अब यह स्पष्ट होगा कि विभिन्न वस्तुओं के भेद असत्य हैं, क्योंकि ये सब वस्तुयें अलग अलग नहीं है बल्कि उस महान् एक के ही अंग-विशेष हैं।

वस्तुओं के लिए जो सत्य है वही विचारों के लिए भी। किसी सत्य के अस्तित्व के प्रकाश के साथ ही साथ उसके विपरीत असत्य के अस्तित्व का प्रकाश होता है। 'बर्फ़ सफ़ेद है', इस प्रकार की घटना के विवरण के लिए ही यह सत्य नहीं बल्कि सिद्धान्तों के विचार के लिए भी यह सत्य है। जैसे स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त के साथ इसके विरोधी सिद्धान्त का अस्तित्व है। वह सिद्धान्त यह है कि अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की स्वतंत्रता हमको नहीं है। हमारा हर कार्य पूर्व-निर्धारित है; घटनावश उस कार्य को करने के लिए हम बाध्य हैं। इसको पूर्वनिर्धारण का सिद्धांत कहा जा सकता है। जिन घटनाओं से उनका सम्बन्ध है, उनके विषय में हर सिद्धान्त सही है। एक विपरीत सिद्धान्त के अस्तित्व का अर्थ ही है कि कोई भी सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से सम्पूर्ण सत्य नहीं है।

इसलिए हेगेल ने कहा, कि कोई ऐसा उपाय अवश्य होगा जिससे एक सत्य और उसके विपरीत सत्य को मिलाकर एक व्यापक सत्य की प्रतिष्ठा हो, जिसमें ये दोनों आंशिक सत्य सम्मिलित हों। इन आंशिक सत्यों के अधूरेपन में मन टिक नहीं सकता, क्योंकि इनका विरोध होता रहता है। इसलिए वह व्यापक सत्य की खोज में आगे बढ़ता रहता है। इस व्यापक सत्य का भी विरोध अनिवार्य है, इसलिए इससे भी अधिक व्यापक सत्य पर मन उपनीत होना है। जब तक कि हम उस अंतिम सत्य पर उपनीत नहीं होते जिसके अन्दर सब आंशिक सत्य और उनके विरोध लय प्राप्त होते है तब तक इन आंशिक और उनके विपरीत सत्यों को मिलाकर एक व्यापक सत्य मे परिणत करने की क्रिया जारी रहती है। यह अन्तिम सत्य 'कुल' के विषय में सम्पूर्ण सत्य है, और यह सत्य 'कुल' के साथ सम्बन्धित है, जिसके विषय मे ही यह सत्य है। इसलिए इसका कोई विपरीत सत्य नहीं हो सकता। यह अन्तिम सत्य सब कुछ के साथ एकांगी है और सब मिलकर एक 'इकाई' है।

यह सत्य मानसिक है; यह विचारों की एक विशेषता है और मन के अस्तित्व को मान लेता है। वह सम्पूर्ण भी जिसके साथ यह सत्य एक है, मानसिक है। इस प्रकार हम 'पूर्ण' पर उपनीत होते है और हेगेल के लिए वास्तविकता यही है। यह वास्तविकता एक सम्मिलित सम्पूर्णता है जिसके अन्दर सारी विविध वस्तुएँ मय मन और मन द्वारा ज्ञात विषय तथा उनकी विभिन्नताएँ मौजूद है। हमारा मन इस पूर्ण का अंशमात्र होने के कारण, विश्व-ससार का एक आंशिक, और इसलिए आंशिकरूप से गलत अन्दाज़ लगाता है। वह इसको अलग अलग वस्तुओं के पुंज के रूप में देखता है। केवल 'पूर्ण', दर्शनशास्त्र जिसका एक अस्पष्ट आभास हमको देता है, की दृष्टि में ही विश्व-संसार एक अविभाजित इकाई है। इस सिद्धान्त से सत्य की प्रकृति ही बदल जाती है।

सत्य की साधारण परिभाषा नीचे दी जाती है जिससे यह मालूम हो जायगा कि इसमें और हेगेल की परिभाषा में क्या अंतर है। हम

साधारण तौर पर कहते हैं कि सचाई विचार या राय का एक गुण है; जैसे कि कोई घटना या राय सत्य है। उदाहरण के लिए, यदि रेलगाड़ी इलाहाबाद से लखनऊ को दस बजे छूटे तो गाड़ी का इस समय छूटना एक सत्य घटना है। यदि मैं यह कहूँ कि ऐसा होता है तो लोग कहेंगे कि मेरा कथन या मेरी राय सही है, क्योंकि मेरी राय से अलग एक घटना है जो सत्य है और जिससे मेरी राय मिलती है। इस तरह सचाई किसी विचार या राय (जो सत्य है) और घटना का मेल है। सचाई राय का एक गण है। कोई राय सच है या नहीं यह निर्भर है एक बाहरी चीज़ अर्थात् घटना के ऊपर। इस दृष्टिकोण को मान्य होने के लिए हमारे दर्शनशास्त्र में अलग अलग घटनाओं के अस्तित्व की सम्भावना होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में एक स्वतन्त्र घटना का अस्तित्व होना चाहिए, जो स्वयं सम्पूर्ण हो और जिसकी धारणा दूसरी घटनाओं से सम्बन्ध-रहित अवस्था में की जा सकती है। लेकिन इसी बात को हेगेल का दर्शन अस्वीकार करता है। हेगेल के अनुसार विश्व में एक ही सत्य घटना है--वह है 'पूर्ण'। जो कुछ इससे कम है वह सत्य घटना नहीं है। यह दूसरी घटनाओं से सम्बन्धित है, जिनसे विच्छिन्न करके इसको नहीं समझा जा सकता और इसलिए इसके अनुरूप कोई एक विचार नहीं है। सारी घटनाओं के गोरख-धन्धे का अनुरूप एकमात्र विचार है और वह है सम्पूर्ण के विषय में सार्वभौमिक धारणा। और चूँकि विचार और विचार के विषय का भेद मिथ्या है, इसलिए 'पूर्ण' और 'सार्वभौमिक धारणा' समवाचक है। 'अनुरूप' शब्द से दो की संज्ञा होती है। लेकिन हेगेल के विचारानुसार यह द्वित्व बोध मिट जाता है; तब 'तदनुरूपता' के लिए कोई जगह नहीं रहती और बिना इसके 'सत्य' का भी कोई अर्थ नहीं होता।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में हेगेल का सबसे बड़ा दान है "स्वयंगति विवर्तनवाद" (Dialectics) का विचार। प्रज्ञावादी, अरस्तू के न्याय के माननेवाले थे जिनके लिए कोई नई चीज़ नहीं हो सकती थी, क्योंकि ये किसी एक आनुमानिक प्राथमिक वस्तु से सारे विश्व का सूत्र

जोड़ लेते थे। लेकिन यह तो सार्वजनिक अनुभव की बात हं कि नये का आविर्भाव संसार में होता रहता है।

हेगेल ने इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए एक नये न्याय का आविष्कार किया। अरस्तू और साधारण न्याय यह कहता है कि हर एक चीज़ और उसका अनुरूप विचार एक ही वस्तु है, दो नहीं। हेगेल ने यह कहा कि प्रत्येक वस्तु में एक अन्तर्विरोध ह जो इसको गतिदान करता ह और इस स्वयं विकास की क्रिया में वह दूसरी वस्तु में परिवर्तित हो जाती है।

हेगेल की वास्तविकता वस्तु नहीं, विचार है। दुनिया का क्रम-विवर्तन उसके लिए विचार का क्रम-विवर्तन है। प्रथम विचार का नाम हेगेल ने दिया 'वाद' (Thesis)। इसके साथ ही इसका विपरीत विचार भी वर्तमान होता है जिसका उसने नाम दिया 'प्रतिवाद' (Antithesis) और इन दोनों के संघर्ष से जो नया विचार उत्पन्न होता है उसका नाम दिया 'समन्वितवाद' (Synthesis)। इस संतुलन की अवस्था में पुनः अन्तर्विरोध की सृष्टि होती है और एक नये विचार-संघर्ष के परिणाम-स्वरूप गति उत्पन्न हो जाती है जो एक नये और वृहत्तर 'समन्वितवाद' में लय को प्राप्त होती है। विश्वलीला इसी विचार-संघर्ष की क्रिया है और यह अन्त में लय होती है 'पूर्ण' में।

———

द्वितीय अध्याय

हेगेल से मार्क्स

अठारहवीं शताब्दी का भौतिकवाद

मार्क्स का दर्शन हेगेल के द्वन्द्वमान और अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद का समन्वय है। मार्क्स ने हेगेल की प्रथा को पूरा पूरा अपनाया। लेकिन दोनों के दृष्टिकोण में बहुत भेद है। यह प्रभेद मुख्यतया आदर्शवाद और भौतिकवाद का प्रभेद है। इस प्रभेद की बुनियादी बात है इस प्रश्न का उत्तर कि मानस पहले है या पदार्थ? हेगेल ने मन को ही प्रधान माना जिसका उसने नाम दिया निर्विकल्प (Absolute); इसी निर्विकल्प (Absolute) के स्वयं विकास का नाम है सृष्टि। इस सृष्टि प्रक्रिया का पहला अंक है एक अविभाजित इकाई। यह इकाई दो विरोधी अंशों में विभाजित हो जाती है। पुनः इन विरोधों का समन्वय होकर एक नई समन्वित इकाई की सृष्टि होती है। इसी प्रकार सृष्टि का विकास होता रहता है। मार्क्स ने इस प्रक्रिया के स्वरूप को स्वीकार किया। लेकिन उसका कहना यह था कि यह क्रिया मन की नहीं बल्कि भूत की है। भूत की यह क्रिया मानस में प्रतिबिम्बित होकर यह मानसिक प्रक्रिया का रूप धारण कर लेती है।

अब यह देखना चाहिए कि मार्क्सीय दर्शन पर अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद का क्या प्रभाव पड़ा।

हॅलबाश—अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद के प्रतीक हैं हॅलबाश और हेलवेशियश। हॅलबाश की प्रसिद्ध पुस्तक है 'प्रकृति-विन्यास' (Systeme de la nature)। दो तीन उक्तियों से ही उसका मतवाद स्पष्ट हो जायगा। यदि सत्ता का अर्थ है सच्चा स्वरूप, तो हमें किसी

वस्तु की सत्ता का कोई ज्ञान नहीं। प्रत्यक्षावलोकन से तथा तद्जनित स्पन्दन और विचारों से हमें भूत का ज्ञान प्राप्त है। और अपनी इन्द्रियों के निर्देशानुसार हम इस विषय में अच्छी या बुरी राय क़ायम करते हैं।

"यद्यपि हमारे ऊपर उसकी प्रतिक्रिया के अनुसार उसके कुछ गुणों का परिचय हमको मिल जाता है लेकिन हमको भूत की सत्ता या सच्चे स्वरूप का कोई ज्ञान नहीं।"

भूत और मन का क्या सम्बन्ध है? विचार-शक्ति की उत्पत्ति कैसे होती है? हॅलबाश का उत्तर बहुत सीधा है "चूंकि मनुष्य भूतों का बना है और भूतों के अतिरिक्त उसका और कोई विचार नही है, क्या इस सिद्धान्त पर पहुँचना अधिक समीचीन न होगा कि यह भूत ही विचार-शक्ति-सम्पन्न है, अथवा भूत में वह विशेष परिवर्तन हो सकता है जिसको मननशक्ति कहते हे?"

मार्क्सीय दर्शन कोरा सिद्धान्त-मात्र नहीं है। यह विश्व को निरीक्षण करने का एक दृष्टिकोण है, यह जीवन-पथ का एक निर्देश है। इतिहास, दर्शन, नीति, विज्ञान सभी से यह सम्बन्धित है। अठारहवीं शताब्दी का भौतिकवाद भी केवल इस प्रश्न के उत्तर पर अवलम्बित नहीं कि पदार्थ पहले है या मानस, यद्यपि यह उसकी मुख्य बुनियाद है।

अठारहवीं शताब्दी का वैज्ञानिक ज्ञान बहुत सीमित था और आज के दिन वह बहुत अधूरा मालूम पड़ता है। अधिकांशत: यह अनुमान के अतिरिक्त कुछ नही था। जैसे पृथ्वी के निर्माण के विषय में हलबाश का कथन है --"सम्भव है कि यह पृथ्वी एक भूत पिण्ड है जो किसी समय किसी नक्षत्र-विशेष से विच्छिन्न हो गया है; अथवा यह पृथ्वी सूर्य-स्थित काले बिन्दुओं के विस्तार का ही परिणाम है; सम्भव है यह एक बुझी हुई धूमकेतु (Comet) है जो पहले किसी अन्य स्थान पर अवस्थित था।" मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में हलबाश का कथन है कि वह प्रकृति की आकस्मिक उपज है। अठारहवीं शताब्दी का दर्शन, राजा,

पुरोहित, तथा सामन्त-वर्ग के विरुद्ध क्रान्तिकारी पूँजीवादियों के संघर्ष को विचारों के क्षेत्र में प्रतिच्छाया है। इस दर्शन ने धर्म के विरुद्ध जिहाद की। मानव नीति के लिए इससे कोई भयंकर बात नहीं हो सकती कि उसका धार्मिक नीति से सम्बन्ध हो। बुद्धि और अनुभव पर प्रतिष्ठित नीति को धर्म से जोड़ना जो रहस्यपूर्ण तथा बुद्धि-विरोधी है और जिसका आधार है आदेश, नैतिक शिक्षा को कमज़ोर बनाना और इसमें गड़बडी पैदा करना है।"

"प्रकृति-विन्यास" का प्रणेता कहता है:—"वासना ही वासना की औषधि है। इसलिए वासनाओं को दमन करने की आवश्यकता नही. केवल उनके लिए रास्ता बनाने की आवश्यकता है। अनुभव से उत्पन्न बुद्धि इसी का नाम है कि हम किस प्रकार की वासनाओं को चुनें जिससे हमारी भलाई हो सके।"

अच्छे बुरे के विषय में उसका कहना है कि मनुष्यमात्र सुख चाहता है और दुख से घबड़ाता है। जिससे सुख मिलता है उसको वे अच्छा कहते हैं—जिससे दुख पहुँचता है उसको बुरा। जिससे उनको स्थायी लाभ पहुँचता है उसको वे गुण कहते हैं और पड़ोसियों के जिस व्यवहार से उनको हानि पहुँचती है उसको वे दोष कहते है; इसलिए गुण-दोष में प्रभेद करने के लिए देवताओं की सहायता की कोई आवश्यकता नही। गुण का सुखदायक होना ज़रूरी है। यदि दोष से किसी मनुष्य को सुख मिलता हो तो वह दोष को अवश्य पसन्द करेगा ही। मनुष्य बुरा तभी होता है जब बुरे होने में ही उसका स्वार्थ हो। दुनिया मे इतने बुरे और दुष्ट लोग इसलिए मिलते है कि कोई सरकार ऐसा कुछ करने का कष्ट नहीं उठाती जिससे उसकी प्रजा को न्याय, भलाई और ईमानदारी मे ही सुविधा मालूम हो। इसके विपरीत प्रबल स्वार्थ लोगों को प्रेरित करता है कि वे दोषी, अन्यायी और अपराधी बनें। प्रकृति ने मनुष्य को बुरा नहीं बनाया, सामाजिक व्यवस्था ही इसके लिए ज़िम्मेदार है। इस प्रसंग में यह समझ लेना चाहिए कि हॅलबाश जब यह कहता है कि दोष मे सुख

मिलने पर मनुष्य दोषी बनेगा ही तो उसका आशय यही है कि समाज-व्यवस्था ही मनुष्य को दोषी बनाती है।

धार्मिक नीति पर विश्वास करनेवाले इन भौतिकवादियों पर क्रोध करते हैं कि उनकी नीति से व्यक्तिगत स्वार्थ का महत्त्व बढ़ जाता है। वोलटेयर ने गर्जन किया "समाज, न्याय और अन्याय की धारणा के बिना नही रह सकता। ईश्वर ने इस आदर्श पर पहुँचने का मार्ग हमको बतलाया है। इसलिए पेकिंग से आइसलैंड तक हर समाज के मनुष्यमात्र का हित ही गुण का अपरिवर्तनीय नियम है। धार्मिक नीति के विरुद्ध संग्राम करते हुए हॅलबाश ने यह दिखलाने की चेष्टा की कि गुण को समझने के लिए ईश्वर की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं।

हॅलबाश ने समझाया कि यह समझने के लिए कि समाज की रक्षा के लिए न्याय आवश्यक है और अन्याय से केवल शत्रुओं की सृष्टि होती है, किसी ईश्वर-वाक्य की आवश्यकता नही। यह समझने के लिए कि सामाजिक जीवों को आपस में प्रेम और एक दूसरे को सहायता करने की आवश्यकता है, ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। निःसन्देह हर एक मनुष्य, जो अपनी रक्षा चाहता है, जानता है कि असंयम और अति, जीवन के लिए खतरनाक है। हर समझदार व्यक्ति को यह अनुभव है कि जुर्म उसके अपने ही साथियों की दृष्टि में घृणा का विषय है, पाप पापियों के लिए भी हानिकर है।

यदि विधि-निषेध के निर्देश के लिए विचार ही काफ़ी है तो उससे दर्शन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। दर्शन का काम यह सिद्ध करना हो जाता है कि अपने स्वार्थों को सही तौर पर समझना ही गुण है। दर्शन-शास्त्र को यह दिखलाना पड़ेगा कि इतिहास-प्रसिद्ध नर-पुंगव के काम उसी प्रकार होते यदि उनमें से हर एक के दिल में उनके अपने सुख ही की बात होती। इसके विरुद्ध रूशो ने प्रश्न उठाया कि कोई अपने ही सुख के लिए मौत का सामना क्यों करेगा? रूशो ने उस दर्शन को घृणित बताया जो ऐसे गुणों के मूल में नीच स्वार्थ को देखता है। एक अर्थ में

स्वार्थ नीति के मूल में है और अधिकतर क्षेत्र में मनुष्य निजी स्वार्थ से ही प्रेरित होता है; लेकिन यह सर्वथा सत्य नहीं है। जब किसी पुण्य कार्य का प्रश्न होता है तब यह प्रेरणा समग्र के स्वार्थ यानी सामाजिक स्वार्थ से मिलती है। व्यक्ति की वीरता और बलिदान के मूल में श्रेणी और समाज का स्वार्थ निहित है।

अठारहवीं सदी के भौतिकवादियों का मूल-मन्त्र यह था कि मनुष्य का अविकृत स्वभाव एक स्थिर संज्ञा है और इसलिए उन्होंने यह निर्णय किया कि मनुष्य-समाज में दुख की उत्पत्ति भूल से है। यदि मनुष्य अपने स्वभाव पर क़ायम रहे तो वह सदा सुखी रहेगा।

उन्होंने इस विचार पर भी ज़ोर दिया कि सामाजिक परिवेष्टन ही से मनुष्य की राय बनती है, यद्यपि उन्होंने इसके उल्टे विचार का भी समर्थन किया कि विशिष्ट राय के कारण भी परिवेष्टन की रूप-रेखा में परिवर्तन होता है।

इसके अलावा उनकी सबसे बड़ी देन है कार्य-कारण के सम्बन्ध के निकटतम सत्य का आविष्कार, यद्यपि इससे ऐतिहासिक प्रगति को समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

फ्रांसीसी भौतिकवाद और मार्क्स—अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवादी दर्शन के जिस अंश को मार्क्स ने ग्रहण किया वह यह है कि भूत ही प्राथमिक है और विचार भूत के एक विशिष्ट प्रकार के संगठन की उपज है। धर्म-जाल को छिन्न कर और अति-प्राकृतिक आधार को अलग कर प्रकृति के नियमों का अध्ययन उचित है। और व्यक्ति से सामाजिक नियमों का अनुसरण न कर, समाज से व्यक्ति का परिचय देना वैज्ञानिक है। मार्क्स पर इस भौतिकवाद का प्रभाव केवल इस अर्थ में ही नहीं है कि इसके एक अंश को मार्क्स ने ग्रहण किया बल्कि यह कि इसका विरोध भी मार्क्सीय दर्शन का एक मुख्य आधार है। मार्क्स की पुस्तक "होली फैमिली" के एक उद्धरण से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा।

पुनर्जागरण—कवित्वहीन और स्पष्ट भाषा में अठारहवीं शताब्दी की फ़ांसीसी 'रोशनी' (प्रगति) और विशेषकर फ़ांसीसी भौतिकवाद का संघर्ष न केवल उस काल के व्यवस्थित राजनैतिक तथा धार्मिक संगठनों से था बल्कि सत्रहवीं शताब्दी के अति-भौतिकवाद और विशेषरूप से उसके प्रतीक देकार्ते, स्पिनोज़ा और लाइबनिट्स इत्यादि के विरुद्ध एक जिहाद था। अति-भौतिकवाद के विरुद्ध दर्शन शास्त्र को खड़ा किया गया, ठीक जिस प्रकार से फ़ॉयेरबाख ने मदिरावेश कल्पना के विरुद्ध स्थितप्रज्ञ दर्शन को खड़ा किया।

फ़ांसीसी भौतिकवाद की दो धारायें हैं जिनमें से एक का उद्गम-स्थल है देकार्ते और दूसरी का लॅक। शेषोक्त फ़ांसीसी कृष्टि का एक उत्तम अंग है और सीधा समाजवाद के प्रवाह में जा मिलता है। पूर्वोक्त, यानी यान्त्रिक भौतिकवाद फ़्रांसीसी प्रकृति-विज्ञान में सम्मिलित हो जाता है। विकास की क्रिया में दोनों धाराओं का संस्पर्श होता रहता है।

यहाँ यह कहना ज़रूरी है कि देकार्ते ने अपने भूत-विज्ञान में भूत को सृष्टि-शक्ति-सम्पन्न बनाया और यान्त्रिक गति की, इसके मुख्य कार्य के रूप में कल्पना की। उन्होंने भौतिक-विज्ञान को अतिभौतिकवाद से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र कर लिया था। उस विज्ञान में भूत ही सब कुछ है और वही ज्ञान और अस्तित्व का एकमात्र आधार है।

फ़ांसीसी यान्त्रिक भौतिकवाद ने देकार्ते के अति-भौतिकवाद से नाता न जोड़कर उसके भूत-विज्ञान से सम्बन्ध जोड़ा। देकार्ते के विज्ञानवाद के पहले प्रचारक थे वैज्ञानिक लेरॅय और यह अपने शिखर पर पहुँचता है काबानी में। दोनों के बीच का आसन है वैज्ञानिक लामेत्री का। देकार्ते के जीवन-काल में ही, लेरॅय ने मनुष्य की आत्मा के लिए भी वही बात लागू की जिसकी कल्पना देकार्ते ने जानवरों के लिए की थी। उन्होंने मनुष्य की आत्मा को उसके शरीर की ही एक विशिष्ट अवस्था बतलाया और यह बतलाया कि विचार यान्त्रिक गति के अलावा और कुछ नहीं है। लेरॅय का यहाँ तक विश्वास था कि देकार्ते ने अपनी असली राय

छिपा रक्खी थी। देकार्ते ने इसका विरोध किया। देकार्तीय भौतिकवाद को काबानी ने सम्पूर्ण किया अपनी पुस्तक "मनुष्य की नीति और उसकी शरीर-रचना पर रिपोर्ट" में।

देकार्तीय भौतिकवाद आज तक फ़्रांस में वर्तमान है और यान्त्रिक प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र में इसको बहुत सफलता भी मिली, जिसके विषय में कम से कम यह कहा जा सकता है कि यह काल्पनिक जगत् में विचरण नहीं करता।

देकार्तीय अतिभौतिकवाद को जन्म से ही भौतिकवाद में अपना शत्रु मिला। इस विरोध का प्रतीक था गैसेंडी जिसने एपिकुरस के भौतिकवाद को पुनर्जीवित किया। फ्रांसीसी और अँगरेज़ी भौतिकवाद बराबर डिमोक्रिटस् और एपिकुरस से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित था। देकार्तीय अतिभौतिकवाद का दूसरा विरोधी था भौतिकवादी अँगरेज़ हब्स।

वोलटेयर ने यह कहा है कि जेसुइट और जैनसेनिस्ट दोनों धर्म-सम्प्रदायों के झगड़ों के प्रति उदासीनता का कारण दर्शन नहीं था बल्कि 'ला' (व्यक्ति-विशेष) का आर्थिक सट्टा। इसी प्रकार सत्रहवीं सदी के अतिभौतिकवाद की अन्त्येष्टि क्रिया का कारण अठारहवीं सदी के भौतिकवाद को कहा जा सकता है, लेकिन जब इसको स्वयं ही उस काल के फ्रांसीसी जीवन के व्यावहारिक रूप का परिणामस्वरूप समझा जाए। यह जीवन पूर्णरूप से वर्तमान से बँधा हुआ था, पार्थिव सुख और स्वार्थ से बँधा हुआ था, इस नश्वर पृथ्वी का ही था। धर्म-विरोधी, अतिभौतिकता-विरोधी भौतिकवादी तथ्य व्यवहार में धर्म-विरोध और अतिभौतिकता-विरोध के अनुरूप ही थे। व्यवहार में अतिभौतिकवाद की सत्ता विनष्ट हो चुकी थी। यहाँ केवल इसके सिद्धान्त का गतिनिर्देश संक्षेप में किया जा रहा है।

सत्रहवीं सदी में भी अतिभौतिकवाद संज्ञात्मक अपवित्र चीज़ों से भरा पड़ा था (लाइबनिट्स, देकार्ते इत्यादि को देखिए)। गणित भूत-विज्ञान तथा और वैज्ञानिक क्षेत्र के आविष्कार इसी के अंग रूप जान

पड़ते थे। लेकिन अठारहवीं सदी के आरम्भ में ही यह भाव नष्ट हो चुका था। विज्ञान और अतिभौतिकवाद का विच्छेद हो चुका था और हरएक अपने स्वतन्त्र क्षेत्र में विराजमान था। अतिभौतिकवाद की सारी सम्पदा अब रह गई विचार-समूह और स्वर्गीय चीज़ें और यह ठीक उसी समय जब पार्थिव चीज़ें सारे संसार को आकर्षित कर रहीं थीं। अतिभौतिकवाद नीरस हो चुका था। जिस साल फ़्रांस के सत्रहवीं सदी के अन्तिम महान् अतिभौतिकवादी मालेब्रांश और आर्नोल की मृत्यु हुई उसी साल हेलवेशियस और कॅनडिलाक ने जन्म ग्रहण किया।

पीयरबेल--सत्रहवीं सदी के अतिभौतिकवादी तथ्य का तथा सब प्रकार की अतिभौतिकता का मूल नष्ट करनेवाला था पीयरबेल। उसका अस्त्र था शंकावाद और अतिभौतिकवाद के जादू मन्त्र से ही इसका निर्माण हुआ था। फ़येरबाख़ ने यह समझ लिया था कि धर्म-मत का आख़िरी सहारा है काल्पनिकवाद, इसलिए धर्म-मत का विरोध करने के लिए उनको कल्पना प्रधान दर्शनशास्त्र का विरोध करना पड़ा। क्योंकि वह धर्म-पुरोहितों को अर्थविज्ञान के द्वारा रूढ़िवाद और अन्धविश्वास पर ढकेलना चाहते थे। ठीक उसी प्रकार धार्मिक सन्देह से प्रेरित होकर बेल ने उस अतिभौतिकता को भी, जो इस धर्ममत के मूल में थी, सन्देह की दृष्टि से निरीक्षण किया। अतिभौतिकवाद और उसके समग्र ऐतिहासिक विकास का बेल ने खण्डन किया। अतिभौतिकवाद की मृत्यु का इतिहास लिखने के लिए ही वह उसका ऐतिहासिक बना। विशेषकर लाइबनिट्स और स्पिनोज़ा का उसने खण्डन किया।

शंकावाद-कृत अतिभौतिकवाद के निराकरण-द्वारा न केवल बेल ने फ़्रांस में साधारण-ज्ञान-दर्शन और भौतिकवाद के ग्रहण के लिए भूमि तैयार की बल्कि वह उस निरीश्वरवादी समाज का अग्रदूत बन गया जिसका जन्म शीघ्र ही होने को था; समकालीन समाज में ही निरीश्वर-वादी समाज का अस्तित्व है, यह उसने प्रमाणित किया। उसने यह दिखलाया कि एक निरीश्वरवादी ईमानदार आदमी बन सकता है।

सबसे बड़ी बात उसने यह प्रदर्शित की कि मनुष्य का पतन निरीश्वरवाद के कारण नहीं बल्कि मूर्त्तिपूजा और रूढ़िवाद के द्वारा होता है।

एक फ्रांसीसी लेखक के शब्दों में 'पीयरबेल सत्रहवीं सदी के अर्थ में अन्तिम अतिभौतिकवादी था और अठारहवीं सदी के अर्थ में पहला दार्शनिक था।'

लेकिन सत्रहवीं सदी के अतिभौतिकवाद और धर्ममत के नकारात्मक खण्डन के अलावा ज़रूरत थी एक अतिभौतिकवाद-विरोधी सृजनात्मक तथ्य की। एक पुस्तक की आवश्यकता थी जो उस काल की व्यावहारिक कार्यवाही को विधिबद्ध कर उसको एक तथ्य की बुनियाद पर खड़ी करती। इँगलिश चैनेल के उस पार से "मानव ज्ञान के मूल के विषय में एक निबंध" नामक लॅक की एक पुस्तक इस प्रकार आ गई मानो कि वह पुकार की प्रतीक्षा कर रही थी। अतिथि की भाँति इसका स्वागत हुआ। लॅक ने साधारण ज्ञान के दर्शन को एक भित्ति पर क़ायम किया; दूसरे शब्दों में उन्होंने चीज़ को इस प्रकार रक्खा कि मनुष्य की इन्द्रियों के परे कोई दर्शन नहीं है।

कॅनडिलाक—कॅनडिलाक ने जो लॅक का शिष्य था और जिसने उसकी विचारधारा को फ़्रांस की जनता के सामने रक्खा, लॅक के इन्द्रियानुभूतिवाद का सत्रहवीं सदी के अतिभौतिकवाद के विरुद्ध प्रयोग किया। उसने यह प्रमाणित किया कि फ़्रांसीसियों द्वारा अतिभौतिकवाद का तिरस्कार उचित ही है क्योंकि यह केवल धार्मिक पाखण्ड तथा कल्पना की प्रसूति है। उसने एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें देकार्ते, स्पिनोज़ा, लाइबनिट्स और मालेब्रांश की दार्शनिक प्रथाओं का खण्डन किया। 'मानवज्ञान के मूल के विषय में एक निबन्ध' नामक अपनी पुस्तक में उसने लॅक के विचारों का समर्थन किया और यह प्रमाणित किया कि न केवल आत्मा बल्कि इन्द्रियाँ भी, न केवल विचारों को उत्पन्न करने का कौशल बल्कि इन्द्रियानुभूति की कला भी अनुभव और अभ्यास के विषय हैं। इसलिए मनुष्य का सारा विकास इस पर निर्भर है कि उसके लिए बाहरी अवस्था

तथा आवेष्टन किस प्रकार के हैं और उसका पालन-पोषण किस प्रकार होता है।

फ़ांसीसी और अँगरेजी भौतिकवाद का प्रभेद दोनों क़ौमों के बीच का प्रभेद है। फ़ांसीसियों ने अँगरेज़ी भौतिकवाद को स्फूर्ति दी, उसको रक्त-मांसमय बनाया, उसमें प्रतिभा का पुट दिया। संक्षेप में उसको सौन्दर्य-मण्डित किया, उसको सभ्य बनाया।

हेलवेशियस भी लॅक ही से आरम्भ करता है। उसमें भौतिकवाद को फ़ांसीसी विशिष्टता प्राप्त होती है। उसने इसको समाज से सम्बन्धित रूप में ही देखा। इन्द्रियभूत गुण और अहंसत्ता, सुख और अनिन्दित स्वार्थरक्षा, ये सब नीति की बुनियाद हैं। मनुष्य की बुद्धि में प्रकृतिगत समानता, विचार शक्ति तथा उद्योग की उन्नति में एका, मनुष्य का स्वाभाविक रूप से अच्छा होना और पालन-पोषण की प्रक्रिया की महान् शक्ति, ये ही उसकी दार्शनिक प्रथा की मुख्य बातें हैं।

लामेत्री के लेखों में देकार्तीय और अँगरेज़ी भौतिकवाद का संयोग होता है। पुंखानुपुंख रूप में देकार्ते के भूत-विज्ञान का उन्होंने प्रयोग किया है। उसकी पुस्तक मनुष्य-मशीन देकार्ते के पशु-मशीन के नमूने पर लिखी गई है। हलबाश के 'प्रकृति-विन्यास' के भूतविज्ञान का अंश भी अँगरेज़ी और फ़ांसीसी भौतिकवाद का सम्मेलन है जैसे उसका नीति-विषयक अंश हेलवेशियस के नीति-विचारों पर अवस्थित है।

यहाँ पर हमने फ़ांसीसी भौतिकवाद के दोनों उत्पत्ति-स्थलों को दिखलाया है, यथा देकार्ते का भूत-विज्ञान तथा अँगरेज़ी भौतिकवाद। साथ ही साथ हमने यह भी दिखलाया है कि फ़ांसीसी भौतिकवाद और सत्रहवीं सदी के अतिभौतिक का विरोध किस प्रकार है।

जैसे देकार्तीय भौतिकवाद प्रकृति-विज्ञान में परिणत होता है, उसी प्रकार फ़ांसीसी भौतिकवाद की एक धारा समाजवाद और साम्यवाद में जा मिलती है।

मनुष्य का स्वभावतः अच्छा होना; मनुष्यों की बुद्धि में समानता; अनुभव, अभ्यास और पालन-पोषण के तरीके का सर्वशक्ति-सम्पन्न होना; बाहरी अवस्थाओं का मनुष्य पर प्रभाव; उद्योग का महत्त्व और सुख भोग का औचित्य इत्यादि **भौतिकवादी** सिद्धान्तों से भौतिकवाद और समाजवाद तथा साम्यवाद के आन्तरिक सम्बन्ध को समझना कोई कठिन बात नहीं है। यदि मनुष्य अपने सारे ज्ञान और प्रत्यक्षानुभूति को इन्द्रिय-जगत् और उसके अनुभव से निर्माण करता है तो प्रश्न यह रह जाता है कि इस वास्तविक जगत् का बन्दोबस्त किस प्रकार किया जाए कि उसमें वह सच्ची मानवना का अनुभव कर सके और अपने को वह मनुष्य रूप में पा सके।

यदि संस्कृत स्वार्थ-रक्षा सब नीति का मूल सिद्धान्त है तो उससे यह बात निकलती है कि व्यक्ति के निजी स्वार्थ और मानवता के स्वार्थ के बीच एका स्थापित होना चाहिए। यदि बाहरी अवस्थाओं से मनुष्य बना है तो बाहरी अवस्थाओं को मनुष्योपयोगी बनना चाहिए। यदि सामाजिकता मनुष्य की प्रकृति में है तो समाज में ही प्रकृत रूप से उसका विकास हो सकता है। इसलिए उसकी प्रकृति की शक्ति का मानदण्ड एक व्यक्ति की शक्ति नहीं है, वह समाज की शक्ति है।

शब्दशः ये विचार प्राचीनतम फ़्रांसीसी भौतिकवादियों की उक्तियों में मिलते हैं। यहाँ उन पर राय ज़ाहिर करने का उचित स्थान नहीं है। भौतिकवाद में समाजवादी पुट का सबसे बड़ा चिह्न है, लॅक के एक सबसे पुराने अँगरेज़ शिष्य मॅंडेविल द्वारा पाप की पेशकारी। उसने प्रमाणित किया कि आज के समाज में पाप अपरिहार्य है और आवश्यकीय भी है; इस उक्ति से वर्तमान समाज की प्रशंसा नहीं होती।

———

तृतीय अध्याय

हेगेल से मार्क्स

फॉयेरबाख--मार्क्स दार्शनिक विचारों में हेगेल के शिष्य थे, लेकिन मार्क्स के ही शब्दों में, "हेगेल सर के बल खड़ा था, मैं उसको पैर के बल खड़ा करा रहा हूँ।" हेगेल के आदर्शवाद और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बीच का सेतु है फ़ॉयेरबाख़। फ़ाँयेरबाख़ ने आदर्शवादी दर्शन को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। अठारहवीं सदी के भौतिकवाद के अलावा फ़ॉयेरबाख़ के दर्शन का भी मार्क्स पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव दो प्रकार का है; आंशिक रूप से तो मार्क्स ने फ़ॉयेरबाख़ को ग्रहण किया; लेकिन इसके विरोध के आधार पर भी मार्क्सीय दर्शन के स्वतंत्र रूप की पुष्टि हुई। फ़ॉयेरबाख़ की मुख्य किताबे हैं "Esscuce of Chrissianity "(ईसाई धर्म का सार) और दर्शन का इतिहास। इसके अतिरिक्त उनके बहुत से लेख उस समय के पत्रों में छपे जिनमें समकालीन दार्शनिकों के मतों का उन्होंने खंडन किया।

वीटे ने अपनी पुस्तक "Philosophical Curriculum" में लिखा "ईश्वर मेरा पहला विचार है; ज्ञान दूसरा; मनुष्य तीसरा और अन्तिम।" इस पर फ़ॉयेरबाख़ की टीका मनन करने के योग्य है; "आदर्शवाद और भौतिकवाद के झगड़े का केन्द्र है मनुष्य का मस्तिष्क। जब हम यह जान लें कि किस प्रकार की वस्तु से यह मस्तिष्क बना हुआ है तब अन्य सब प्रकार की वस्तु तथा वस्तु निर्विशेष के विषय में हमारे विचार स्पष्ट हो जायँ।"

प्लेखानोव के कथनानुसार इस युक्ति में फ़ाँयेरबाख़ ने अपनी दार्शनिक विचार-धारा का आरम्भ मनुष्य से इसलिए किया है कि इसके द्वारा वह

अपने ध्येय पर आसानी से पहुँच सकता था और उसका ध्येय था वस्तु-निर्विशेष के विषय में एक निर्भूल विचार की स्थापना करना तथा पदार्थ और मानस के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना। यहाँ दर्शन-प्रवेश की जिस प्रणाली को फ़ॉयेरबाख़ ने अपनाया है उसका कारण है समय और स्थान। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उस समय के जर्मन विद्वानों की प्रणालियों की पूरी छाप फ़ॉयेरबाख़ की रचनाओं पर है।

१८४२ में (Vorlamfise Thesen Zur Reformer Philosophic (दार्शनिक सुधार का पूर्वाभास) शीर्षक एक लेख में फ़ॉयेरबाख़ ने लिखा, "अस्तित्व (पदार्थ) और विचार का सम्बन्ध इस प्रकार बतलाया जा सकता है; अस्तित्व कर्ता है और विचार क्रिया है। विचार अस्तित्व का कार्यरूप है न कि कारण। अस्तित्व स्वयम्भू है, इसका मूल वह स्वयं है"।

फ़ॉयेरबाख़ के विचारानुसार अस्तित्व और विचार के जिस विरोध को कान्ट ने बहुत महत्त्व दिया है हेगेल ने उसको दबा दिया है। हेगेल ने इस विरोध को एक ही के अन्दर यानी विचार के अन्तर्गत सीमित कर दिया। हेगेल के लिए विचार ही अस्तित्व भी है। यह स्पष्ट है कि हेगेल तथा सभी आदर्शवादियों ने विचार और पदार्थ इन दोनों में से एक अर्थात् अस्तित्व यानी भूत और प्रकृति को दबाकर ही इस विरोध का अन्त किया है। लेकिन किसी एक उपादान को दबाकर इस विरोध का निराकरण नहीं होता है। हेगेल का यह सिद्धान्त, कि विचार में ही प्रकृति अन्तर्निहित है, उस धर्म-विज्ञान का दार्शनिक रूपान्तर-मात्र है जिसके अनुसार ईश्वर प्रकृति का स्रष्टा है और अभौतिक जीव भौतिक जीव का।

यह केवल हेगेल के पूर्ण आदर्शवाद के लिए ही लागू नहीं है। कैन्ट का अतीन्द्रियवादी आदर्शवाद जिसके अनुसार बाहरी दुनिया के नियमों का कारण है बुद्धि, न कि यह कि बुद्धि को उन नियमों का ज्ञान बाहरी दुनिया से प्राप्त होता है, उस धार्मिक कल्पना के समान है, जिसके अनुसार, ईश्वरीय बुद्धि ही उन नियमों को जन्म देती है, जिनसे इस दुनिया का नियन्त्रण होता है। आदर्शवाद पदार्थ और विचार के ऐक्य को न स्थापित

करता है और न कर सकता है। इसके विपरीत इस एकत्व को वह विनष्ट करता है। आदर्शवादी दर्शन का प्रारम्भ (अहंसत्ता को मूल दार्शनिक सिद्धान्त मानना) ही भूल है। सच्चे दर्शन का प्रारम्भ होना चाहिए न केवल "मैं" से बल्कि "मैं" और 'तुम' (जो 'मैं' के बाहर है) से। इसी प्रारम्भस्थल से हम विचार और पदार्थ, कर्ता और कर्म के सम्बन्ध को ठीक रूप में समझ सकते हैं। मैं स्वयं अपने लिए "मैं" हूँ लेकिन दूसरे के लिए 'तुम'। मैं एक साथ कर्ता हूँ और कर्म भी। इसके अलावा यह बतला देना आवश्यक है कि 'मैं' वह अमूर्त अह सत्ता नहीं है जिसको लेकर आदर्शवादी दर्शन का कारोबार है। 'मैं' एक वास्तविक अस्तित्व है, या यों कहिये कि मेरा अस्तित्व वास्तविक है। मेरा शरीर मेरी सत्ता का एक अंश है। इससे भी अधिक, मेरा शरीर ही, अपने समग्र रूप में, मेरी वास्तविक सत्ता है। जो विचार करता है वह अमूर्त अस्तित्व नही है, वह है वास्तविक अस्तित्व, यह शरीर। आदर्शवादियों के कथन के विपरीत, वास्तविक भौतिक अस्तित्व ही कर्त्ता है और विचार उसकी क्रिया। विचार और अस्तित्व के विरोध की समस्या का यही एकमात्र हल है। व्यर्थ ही आदर्शवाद की लहरें इस समस्या की चट्टानों से टकराती रहती हैं। विरोध के एक अंग को दबाकर हम इस हल पर नहीं पहुँचते। इस हल में दोनों अंगों की रक्षा होती है और इसमें उनका ऐक्य आँखों के सामने आ जाता है। "जो कर्म विचारों की दृष्टि से विशुद्ध आत्मिक, अभौतिक तथा इन्द्रियों से असम्बन्धित है वह वास्तविक रूप से एक भौतिक इन्द्रिययुक्त कर्म है।

पाठक ध्यान रखें कि जिस समय फ़ॉयेरबाख़ वर्तमान दर्शन का इतिहास लिख रहे थे, जिस समय आदर्शवाद से उनका नाता टूट ही रहा था, उस समय स्पिनोज़ा के दर्शन ने उनको बहुत आकृष्ट किया। वह उसके बहुत निकट हो गये थे। उपर्य्युक्त कथन स्पिनोज़ा और फ़ॉयेर-बाख़ के इस निकट-सम्बन्ध का द्योतक है। १८४३ में "ग्रुंड सेट्स" में तीव्रता के साथ उन्होंने कहा कि सर्वेश्वरवाद (सर्वभूत में ईश्वर को

देखना) धर्माभिभूत भौतिकवाद है, धर्म विद्या का नकारात्मक रूप है, लेकिन ऐसा रूप जो फिर भी धार्मिक दृष्टिकोण से चिपटा हुआ है। स्पिनोज़ा ने जिस प्रकार भौतिकवाद और धर्म-विज्ञान का मिश्रण किया है उससे उसके मत की असगति प्रकाशित होती है; लेकिन इस असंगति के होते हुए भी वह अपने युग की सीमाओं के अन्दर आधुनिक भौतिकवादी विचारों को व्यक्त करने में समर्थ हुआ।

फ़ॉयेरबाख़ ने स्पिनोज़ा का नाम दिया "वर्तमान युग के स्वाधीन विचारकों और भौतिकवादियों का मूसा"। १८४७ में फ़ॉयेरबाख़ प्रश्न करते हैं कि जब स्पिनोज़ा (तार्किक या अतिभौतिक रूप में) पदार्थ और (धर्म-विद्या के अनुसार) ईश्वर के विषय में कहता है तो उसका अर्थ क्या है? फ़ॉयेरबाख़ का दृढ़ उत्तर है "प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" फ़ॉयेरबाख़ के अनुसार स्पिनोज़ा का मुख्य दोष यह है कि "इस दर्शन में धर्म-निरपेक्ष इन्द्रियानुभूत प्रकृति की सत्ता अमूर्त अतिभौतिक का रूप ग्रहण करती है।" स्पिनोज़ा ने ईश्वर और प्रकृति के द्वैत को दबा दिया है क्योंकि वह प्राकृतिक व्यापार में ईश्वर का ही कार्य देखता है। लेकिन चूंकि स्पिनोज़ा के मतानुसार प्राकृतिक कारोबार ईश्वर का ही कार्य है, ईश्वर उसके लिए प्रकृति से भिन्न एक सत्ता बन जाता है जिसके ऊपर प्रकृति निर्भर है। ईश्वर उसके लिए कर्ता है और प्रकृति कर्म। आज जब कि दर्शन ने स्पष्ट रूप से अपने को धार्मिक संस्कारों से मुक्त कर लिया है, उसको स्पिनोज़ा के सिद्धान्त के इस महान् दोष से भी मुक्त हो जाना चाहिए। अन्यथा स्पिनोज़ा का सिद्धान्त मूलतः बहुत सही है। फ़ॉयेरबाख़ का कथन है—इस विरोध को दूर करो।

इस प्रकार फ़ॉयेरबाख़ का मानवतावाद स्पिनोज़ा का ही सिद्धान्त है, यदि इसमें से धर्मविद्या का जंजाल निकाल दिया जाय। आदर्शवाद से पहले पहल नाता टूटने पर मार्क्स और एंगेल्स ने इसी दर्शन को अपनाया। फ़ॉयेरबाख़ एक स्थान पर कहता है "अस्तित्व के नियम विचार-जगत् के भी नियम हैं।" इस मत का खंडन करते हुए भी मार्क्स ने फ़ॉयेरबाख़ के

विचारों का ही विस्तार किया है। एक उदाहरण 'ज्ञान के सिद्धान्त' के क्षेत्र से दिया जाता है। फ़ॉयेरबाख़ के अनुसार, किसी वस्तु के विषय में मनन करने से पहले मनुष्य अपने ऊपर उसकी क्रिया का अनुभव करता है, उसका ध्यान करता है, उसका बोध करता है।

फ़ॉयेरबाख़ के इस विचार को ध्यान में रखकर ही मार्क्स ने यह कहा "अब तक के भौतिकवाद का और फ़ॉयेरबाख़ के भौतिकवाद का भी यह मुख्य दोष रहा है कि वह वास्तविकता को, इन्द्रियानुभूत वस्तु जगत् को मनन के विषय के रूप में देखता रहा; उसने वस्तु जगत् के अनुभव को व्यावहारिक अभ्यास तथा मनुष्य की क्रिया के रूप में नहीं देखा।" मार्क्स आगे चलकर कहता है कि भौतिकवाद के इसी दोष को ध्यान में रखकर हम यह समझ सकते हैं कि फ़ॉयेरबाख़ ने अपनी पुस्तक "ईसाई धर्म का सार" में विचारात्मक क्रिया को ही मानव की वास्तविक क्रिया क्यों माना है। फ़ॉयेरबाख़ ने इस मत पर ज़ोर दिया है कि बाहरी वस्तु की क्रिया का विषय-मात्र बनकर मनुष्य उन वस्तुओं की पहचान करता है; लेकिन मार्क्स का कहना है कि वस्तु के ऊपर अपनी प्रतिक्रिया-द्वारा हम उसकी पहचान करते हैं।

मार्क्स ने अपने दर्शन में इस पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है कि हमें वस्तु ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है। उसका विवेचन आगे चलकर किया जायगा। यह विषय मन और भूत के आपसी सम्बन्ध से सम्बन्धित है। शेलिङ्ग ने अलंकारिक ढंग से इस विषय में आदर्शवादी दृष्टिकोण को यों रक्खा है कि मन एक द्वीप है जिस पर भूत रूपी समुद्र से कूद कर ही पहुँचा जा सकता है। फ़ॉयेरबाख़ भौतिकवादी दृष्टिकोण को परिहार करनेवालों के विरोध को दिखलाकर ही विराम नहीं लेते। वह यह भी दिखलाते हैं कि किस मार्ग से आदर्शवादी अपने द्वीप पर पहुँचते हैं। उनका कहना है कि "मैं निरपेक्ष रूप से 'मैं' नहीं हूँ; मैं दूसरों के लिए 'तुम' भी हूँ। लेकिन मेरा अस्तित्व इन्द्रिययुक्त अस्तित्व है। विशुद्ध प्रज्ञा ने इस अस्तित्व को अमूर्त रूप में वास्तविकता से पृथक् किया है।

इसलिए मेरे और जो मैं नहीं हूँ उसके ीच का सम्बन्ध मनमानी प्रतीत होता है। विशुद्ध विचार, जिसका इन्द्रियों से कोई नाता नहीं, असंलग्न विचार है।"इस महत्त्वपूर्ण वाक्य का सम्बन्ध प्रत्याहार के उस विश्लेषण से है जो हेगेल के तर्कशास्त्र का जन्मदाता है।

वर्तमान मनुष्य-शास्त्र को जिन बातों का पता है, यदि उनका ज्ञान फ़ॉयेरबाख़ को होता तो वह यह कह सकते थे कि ऐतिहासिक रूप से दार्शनिक आदर्शवाद का उद्भव उस बुद्धि से है जिसके द्वारा आदिम जातियाँ हर वस्तु में जीवधारी का रूप देखा करतीं थीं। इस सम्बन्ध में फ़ॉयेरबाख़ की अन्तर्दृष्टि की एक झलक हमको मिलती है। उन्होंने लिखा है, "वस्तु की धारणा मुख्य रूप से दूसरी आत्मा की धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार हर एक मनुष्य अपने बचपन में बाहरी वस्तुओं को जीवधारी के रूप में देखता है जिनका व्यवहार निःसंकोच तथा मनमानी होता है।

फ़ॉयेरबाख़ के दर्शन के ऊपर मार्क्स ने जो टिप्पणियाँ की हैं उनके ग्यारह शीर्षक हैं। तीसरे शीर्षक में मार्क्स का कहना है, "वह भौतिक-सिद्धान्त, जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि मनुष्य परिस्थितियों और शिक्षा की उपज है, इस बात को ध्यान में नहीं रखता कि मनुष्य परि-स्थितियों में कमोबेश परिवर्तन कर सकता और करता है और शिक्षक को स्वयं शिक्षित होने की आवश्यकता है।"ज्यों ही इस समस्या का समाधान होता है, इतिहास की भौतिक धारणा का रहस्य खुल जाता है। लेकिन फ़ॉयेरबाख़ इस समस्या का समाधान करने में असमर्थ रहे। मार्क्स और एंगेल्स को ही यह करना था। लेकिन इनको इस विषय में उनसे कुछ इंगित प्राप्त हुए। फ़ॉयेरबाख़ ने लिखा है—"कला, धर्म, दर्शन और विज्ञान मानवसत्ता के ही प्रकाश हैं।"इससे यह अर्थ निकलता है कि विचार-प्रणालियों की व्याख्या को मानवसत्ता में ही ढूंढ़ निकालना होगा। यानी विचार-प्रणालियों के विकास का आधार है मानवसत्ता का विकास। लेकिन यह 'मानवसत्ता' है क्या? इस प्रश्न के उत्तर में फ़ॉयेरबाख़ का

कहना है कि यह मानवसत्ता मनुष्य के साथ मनुष्य के ऐक्य में, उनके परस्पर संयोग में मिलती है। यह उत्तर बहुत ही अस्पष्ट है; परन्तु फ़ॉयेरबाख़ इस सीमा के आगे बढ़ न सके। लेकिन इस सीमा को पार करने पर ही हम 'इतिहास की भौतिकवादी धारणा' (भौतिकवादी दृष्टिकोण से इतिहास का विवेचन) पर पहुँच सकते हैं जिसके जन्मदाता हैं मार्क्स और एंगेल्स। यह धारणा उन कारणों को व्यक्त करती है, जिनके द्वारा, मनुष्य-जाति के विकास में, मनुष्यों का पारम्परिक सम्बन्ध निर्धारित होता है। यह सीमा-रेखा न केवल मार्क्स को फ़ॉयेरबाख़ से पृथक करती है बल्कि यह भी दिखलाती है कि दोनों विद्वानों में कितना मतैक्य और कितनी निकटता है।

फ़ॉयेरबाख़ पर छठी टिप्पणी में हम पाते हैं कि सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता ही मानवसत्ता है। फ़ॉयेरबाख़ की तुलना में यह परिभाषा बहुत सुस्पष्ट है, लेकिन इससे भी यह ज्ञात हो जाता है कि मार्क्स और फ़ॉयेरबाख़ के दृष्टिकोण कितने समीप हैं।

नीचे लिखे हुए मार्क्स कथित ऐतिहासिक भौतिकवाद के विवरण से यह सिद्ध हो जाता है, कि मार्क्स के ऊपर फ़ॉयेरबाख़ का प्रभाव कितना अधिक था। "हेगेल के लिए मनन (जिसको वह एक स्वतन्त्र कर्ता का रूप देकर 'आदर्श' का नाम देता है) वास्तव का जनक है; और वास्तव उसके लिए आदर्श का बाहरी प्रकाशमात्र है। मेरे विचार से आदर्श उस वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नही है जो मानव-मस्तिष्क के अन्दर रूपान्तरित हो चुकता है।"

फ़ॉयेरबाख़ के व्यक्तित्व का विकास एक हेगेलवादी का विकास है जिसका हेगेलवाद परिणत होता है भौतिकवाद में। इस विकास के लिए यह आवश्यक था कि एक विशिष्ट अवस्था में उसके पूर्वगामी की आदर्शवादी प्रथा से उसका सम्पूर्ण विच्छेद होता। फ़ॉयेरबाख़ ने घोषणा की कि भूत मानस की उपज नहीं है, मानस ही भूत की सर्वोत्कृष्ट उपज है। यह निःसन्देह विशुद्ध भौतिकवाद है। लेकिन यहाँ तक जाने के बाद

फ़ॉयेरबाख़ रुक जाता है। प्रचलित दार्शनिक पक्षपात—पक्षपात भौतिक-वाद की वास्तविकता के विरुद्ध नहीं बल्कि उसके नाम के विरुद्ध—के दोष से वह परे नहीं जा सका। वह कहता है—"मेरे लिए भौतिकवाद मानवसत्ता और ज्ञान की अट्टालिका का आधार तो है लेकिन स्वयं अट्टालिका वह नहीं है जैसा कि शरीरशास्त्री या मलेशॉ जैसे संकुचित दृष्टि-कोणवाले भूतवैज्ञानिक कहते हैं। पीछे की ओर भौतिकवादियों से मेरी पूरी सहमति है, लेकिन आगे की ओर नहीं।"

फ़ॉयेरबाख़ ने यहाँ उस भौतिकवाद को, जो कि भूत और मानस के सम्बन्ध की एक विशिष्ट धारणा के ऊपर अवस्थित, विश्व को निरीक्षण करने का एक व्यापक दृष्टिकोण है, मिला दिया उस भौतिकवाद से, जिसका प्रचार ऐतिहासिक विकास की एक विशेष अवस्था में यानी अठा-रहवीं सदी में किया गया था। इससे भी अधिक वह भूल करता है जब वह इसको अठारहवीं सदी के भौतिकवाद के उस छिछले और विकृत रूप में देखता है, जो रूप आज भी प्रकृति-वैज्ञानिक और भूत वैज्ञानिकों के मन में विराजमान है और जिसका प्रचार १८५० ई० में अपने दौरा में बुकनेर, फोग्ट और मोलेशॉट् ने किया था। लेकिन जैसे आदर्शवाद के विकास की कई अवस्थायें थीं वैसे ही भौतिकवाद भी कई अवस्थाओं के अन्दर गुज़रकर विकसित हुआ है।

फ़ॉयेरबाख़ का कहना बिलकुल सत्य है कि वह भौतिकवाद, जो प्रकृति-विज्ञान में सीमित है, मानव-ज्ञान की अट्टालिका का आधार तो है, परन्तु वह स्वयं अट्टालिका नहीं है। क्योंकि प्रकृति में ही केवल हमारा निवास नहीं है, मानव-समाज में भी हम रहते हैं और प्रकृति की तरह इसके भी विकास का इतिहास और विज्ञान है। इसलिए प्रश्न यह था कि किस प्रकार समाज-विज्ञान का इस भौतिकवादी आधार से सामञ्जस्य स्थापित किया जाय और इसी आधार पर उसका पुनर्निर्माण किया जाय। लेकिन फ़ॉयेरबाख़ को यह करना नहीं था। इस 'बुनियाद' के होते हुए भी वह परम्परागत आदर्शवादी शृंखलाओं में बँधा रहा जिसका प्रकाश उसने

इन शब्दों में किया है कि "पीछे तो मेरी भौतिकवादियों से सहमति है लेकिन आ ` की ओर नहीं। लेकिन यह भी सत्य है कि फ़ॉयेरबाख़ ही आगे नहीं बढ़ सका।

फ़ॉयेरबाख़ की दार्शनिक सीमाओं को मार्क्स ने किस प्रकार अतिक्रम किया इसके उदाहरण के लिए नीचे फ़ॉयेरबाख़ की 'ईसाई धर्म का सार' नामक पुस्तक से एक उद्धहरण दिया जाता है, जिसका मार्क्स ने खण्डन किया है--

"विश्वास और धर्म के विरोध में हमें उस व्यावहारिक आवश्यकता का अनुभव होता है कि हम अपने को ईसाई तथा सभी धार्मिक दृष्टिकोणों के ऊपर उठावें। हमने यह दिखलाया है कि धर्म का उद्देश्य और तत्त्व सम्पूर्णरूप से मानवीय है। हमने यह दिखलाया है कि ईश्वरीय ज्ञान मानवीय ज्ञान है; धर्म-नियमों के रहस्य का पता चलता है मानवविज्ञान से; पूर्ण मानस सीमित मनुष्य-मन का ही नाम है। लेकिन धर्म को यह पता नहीं कि जिससे वह बना है, वह मानवीय है; इसके विपरीत वह अपने को मानवीय वस्तुओं के विरोध में रखता है। इतिहास वहाँ से बदलता है जब हम मान लेते हैं कि ईश्वर का ज्ञान मनुष्य-जाति के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; मनुष्य अपने व्यक्तित्व की सीमाओं को पार कर सकता है और अपने को उसके ऊपर उठा सकता है, लेकिन मनुष्य जाति की अवस्थाओं और उसके नियमों के ऊपर नहीं; मनुष्य-प्रकृति को छोड़ कर और कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसको मनुष्य पूर्ण की तरह सोच सकता है, या कल्पना कर सकता है या जिसको आदर और प्रेम कर सकता है, या जिसको स्वप्न में देख सकता है या जिसको चाह सकता है।" **(ईसाई धर्म की सत्ता)** ।

इस उक्ति का सार यह है कि सब परिवर्तनों की सूचक है राय, या विश्वास में एक व्यापक परिवर्तन; फ़ॉयेरबाख का उद्देश्य है व्यक्तिगत और सर्वसाधारण के स्वार्थ को मिला देना—मनुष्य-प्रकृति के नियम को

सार्थक करना—जिस नियम की बुनियाद है एक अमूर्त और अपरिवर्तनीय ऐसा कुछ, जो हर अलग अलग व्यक्ति में विद्यमान है और जिसके कारण सब मनुष्य स्वभावतः एक हैं।

तीसरी टिप्पणी में मार्क्स ने इसके एकतरफ़ा स्थिर और अमूर्त रूप को दिखलाया है और इस विचार का खण्डन किया है।

मार्क्स और फ़ॉयेरबाख़ के प्रभेद को स्पष्ट करने के लिए उसी पुस्तक का एक और उद्धरण, एंगेल्स की एक टिप्पणी के सहित, नीचे दिया जाता है:—

"मानवता के काल को धार्मिक परिवर्तनों के द्वारा विभाजित किया जा सकता है। किसी ऐतिहासिक आन्दोलन का मौलिक रूप तभी होता है जब मनुष्य के हृदय में इसकी जड़ हो। हृदय कोई धर्म का रूप नहीं है जिससे उसमे भी धर्म का निवास हो; हृदय ही धर्म का सार है।"

फ़ॉयेरबाख़ के धर्म और नीति के इस दर्शन में उसकी असली आदर्श-वादिता का रूप स्पष्ट हो जाता है। फ़ॉयेरबाख़ के अनुसार धर्म वह सम्बन्ध है जिसकी बुनियाद है मनुष्यों के बीच प्रेम का सम्बन्ध और जिसकी ुनियाद है हृदय। धर्म अभी तक अपना सत्य वास्तविकता के अद्भुत प्रतिबिम्ब में खोजता रहा; एक या अनेक देवताओं के अन्दर मनुष्योचित गुणों के अद्भुत प्रतिबिम्ब में इस सत्य को खोजता रहा। लेकिन अब इसको यह सत्य सीधा सीधा "मैं" और "तू" के ीच प्रेम के सम्बन्ध में मिल जाता है और जिसके लिए किसी तीसरे माध्यम की आवश्यकता नहीं। इस प्र कार अन्त तक फ़ॉयेरबाख़ के लिए धर्म के अभ्यास का सर्वश्रेष्ठ नहीं तो एक श्रेष्ठ रूप है यौन प्रेम।

मनुष्यों के बीच, विशेषकर पुरुष और स्त्री के बीच प्रेम का सम्बन्ध तभी से है जब से मनुष्य-जाति का अस्तित्व है। पिछले अ 5 सौ साल में,

विशेषकर यौन सम्बन्ध का ऐसा विकास हुआ है कि उस काल की कविता का यह आवश्यकीय केन्द्रस्थल रहा है। वर्तमान धर्मों ने इस विषय में अपने को ऐसा सीमित किया कि उनका काम रह गया राष्ट्र-नियन्त्रित यौन प्रेम को (अर्थात् विवाह के नियमों को) पवित्र बनाना। आजकल यदि ये सब धर्म उड़ जायें तो भी प्रेम और मैत्री का काम जारी रहेगा। वास्तविकता तो यह है कि सन् १७९२ से १७९८ के बीच फ़्रांस में ईसाई धर्म का ऐसा लोप हो गया कि नेपोलियन भी निर्विरोध और बिना किसी कठिनाई के इसकी पुनःस्थापना न कर सका और इस बीच लोगों को धर्म-जैसी किसी वस्तु की आवश्यकता का भी अनुभव न हुआ।

फ़ॉयेरबाख़ की आदर्शवादिता इसी में है—वह यौन प्रेम, मित्रता, सहानुभूति, स्वार्थ-बलिदान आदि और परस्पर झुकाव के ऊपर प्रतिष्ठित पारस्परिक सम्बन्ध को, ज्यों के त्यों, बिना किसी धार्मिक सम्बन्ध के, (जिसका स्थान भी अतीत में है) ग्रहण नहीं कर सकता। बल्कि उसका कहना यह है कि धर्म की छाप से विशुद्ध होने पर ही इनका असली प्रकाश हो सकता है। उनके लिए मुख्य बात यह नहीं है कि इन अविमिश्र मानवीय सम्बन्धों का अस्तित्व है बल्कि यह कि इनकी कल्पना एक नय सत्य धर्म के रूप में की जाय। धर्म की मोहर लगने पर ही इनका पूरा मूल्य मिल सकता है। अँगरेज़ी धर्म शब्द की उत्पत्ति हुई है "रेलीगेर" (Religare) से जिसका मूल अर्थ है "बन्धन"। इसलिए दो मनुष्यों के बीच कोई बन्धन भी एक प्रकार का धर्म है। ऐसा शब्द-जाल ही आदर्शवादी दर्शन का आखिरी हथकण्डा है। इस शब्द के व्यवहार के ऐतिहासिक विकास में इसका आज क्या अर्थ है, इससे कोई मतलब नहीं—मतलब यह है कि मूल उत्पत्ति के अनुसार इसका क्या अर्थ होना चाहिए। इसलिए यौन प्रेम को धर्म स्थानीय किया गया है ताकि धर्म शब्द, जो आदर्शवादी को इतना प्यारा है, भाषा से उड़ न जाय। १८४० के लगभग लूई ब्लांक की तरह पैरिस के सुधारवादी इसी भाषा में बातें करते थे। वे धर्मविहीन मनुष्य की कल्पना दैत्य-दानव ही की तरह कर सकते थे

और कहते थे "तो नास्तिकता ही तुम्हारा धर्म है ?" यदि फ़ॉयेरबाख़ मुख्यतः प्रकृति की भौतिक धारणा के ऊपर प्रतिष्ठित एक सच्चे धर्म की स्थापना चाहते हैं तो यह वैसा ही है जैसे आधुनिक रसायन शास्त्र को पारस पत्थर की जादू की तरह देखने की इच्छा। यदि धर्म का अस्तित्व बिना देवता के हो सकता है तो इस जादू का भी अस्तित्व बिना पारस पत्थर के हो सकता है।

फ़ॉयेरबाख़ का कहना, कि मानव-इतिहास के ज्ञान को धार्मिक परिवर्तनों के द्वारा विभाजित किया जा सकता है, बिलकुल ग़लत है। धार्मिक परिवर्तन और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तन का साथ रहा है–यह बात केवल तीनों विश्व-धर्मों के लिए, यथा बौद्ध, ईसाई और इसलाम धर्म के लिए कहा जा सकता है। प्राचीन आदिम क़बीलों या जातियों के धर्म प्रचारशील नहीं थे, यानी ये क़बीले दूसरों को अपने धर्म-मत में लाने के लिए प्रयत्नशील न थे और ज्योंही इनकी स्वतन्त्रता खो जाती थी इन धर्मो के प्रतिरोध की शक्ति भी जाती रहती थी। जर्मनों के लिए, म्रियमाण रोमन साम्राज्य तथा उसका नव-स्वीकृत ईसाई धर्म, जो उसकी आर्थिक, राजनैतिक और मानसिक अवस्था के लिए सर्वथा उपयुक्त था, के संस्पर्श में आना ही काफ़ी था। कमोबेश कृत्रिम उपायों से सृष्ट विश्व-धर्म, विशेषकर ईसाई और इसलाम धर्म के सम्बन्ध में ही हम देखते हैं कि व्यापक ऐतिहासिक आन्दोलनों पर धर्म की छाप है। ईसाई धर्म के लिए भी इस धर्म की छाप, व्यापक और महत्त्वपूर्ण क्रान्तियों के क्षेत्र में, तेरहवी से सत्रहवीं सदी तक, जो कि पूँजीवादी वर्ग के स्वाधिकार-प्राप्ति के संघर्ष की प्रथमावस्था है, सीमित है। इसका भी कारण, जैसा फ़ॉयेरबाख़ सोचता है, मनुष्य के हृदय और उनकी धार्मिक आवश्यकता नहीं है, बल्कि मध्ययुग के पूर्व का सारा इतिहास, जो हर चीज़ को धर्म के पहनावे में ही देखता था। लेकिन उस अठारवहवीं सदी के पूँजीवादियों में जब इतनी शक्ति आ गई कि वह अपनी उस विचार-शैली को रख सकें जिसका उनके श्रेणीस्वार्थ से सामञ्जस्य था, तब उसने उस

महान् क्रान्ति, फ़ांसीसी क्रान्ति का प्रवर्तन किया और बजाय लोगों की धार्मिक भावनाओं को अपील करने के क़ानूनी तथा राजनैतिक विचारों की अपील की और उसका धर्म से उस हद तक ही सम्बन्ध था जहाँ तक कि उनके रास्ते में यह रोड़ा था। लेकिन पुराने के स्थान पर नये धर्म की स्थापना की बात उनके दिमाग़ में कभी नहीं आई। हर एक व्यक्ति जानता है कि इस प्रयत्न में रोब्सपीयर कितना असफल रहा।

चतुर्थ अध्याय

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

यद्यपि फ़ॉयेरबाख़ ने मार्क्स के भौतिकवादी विचारों को पुष्ट करने में काफ़ी सहायता दी और एक सीमित अर्थ में मार्क्स ने उसका शिष्यत्व भी किया लेकिन सहज ही उसने फ़ॉयेरबाख की धार्मिक सीमा को अतिक्रम किया। फ़ॉयेरबाख़ ने हेगेल के आदर्शवाद का खण्डन किया और भौतिकवाद के आधार को मज़बूत बनाया लेकिन इस प्रक्रिया में हेगेल के द्वन्द्वात्मक न्याय का भी अन्त किया। मार्क्स ने इस द्वन्द्वात्मक न्याय की मर्यादा को अक्षुण्ण रखते हुए भौतिकवाद को अपनाया। इसी लिए मार्क्सीय दर्शन का नाम "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" है।

आदर्शवाद और भौतिकवाद—एक तुलना—आदर्शवादी दर्शन इस जगत् को एक "पूर्ण विचार" या कल्पना, एक "विश्वात्मा" या "आत्म-ज्ञान" का मूर्त रूप समझता है। मार्क्सीय दर्शन के अनुसार इस जगत् का असली रूप है भौतिक। इस जगत् के विचित्र और विभिन्न दृश्यमान व्यापार भूत की गति के ही विभिन्न रूप हैं। इन दृश्यमान व्यापारों के आपसी सम्बन्ध गतिशील भूत के विकास के नियम हैं और इन्हीं नियमों के अनुसार जगत् का विकास होता है, और इसे किसी विश्वात्मा की आवश्यकता नहीं। एंगेल्स के शब्दों में भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रकृति की कल्पना उसी प्रकार करता है जैसा कि वह है—उसमें कुछ घटाता-बढ़ाता नहीं।

आदर्शवादी विचार के अनुसार वास्तविक अस्तित्व है मन का। भौतिक जगत्, जीव और प्रकृति का निवास-स्थल है हमारा मन, हमारी इन्द्रियानुभूति, हमारे विचार और हमारी कल्पनायें। इसके विपरीत मार्क्सीय दर्शन भूत, प्रकृति और जीव के वास्तविक अस्तित्व को सत्य

मानता है और यह भी मानता है कि इनका अस्तित्व मन के ऊपर निर्भर नहीं है। इसके अनुसार भूत ही प्रथम है क्योंकि इसी से इन्द्रियानुभूति, विचार और मन की उत्पत्ति है और मन का द्वितीय स्थान है क्योंकि यह भूत से उत्पन्न है, तथा भूत और जीव का प्रतिबिम्ब-मात्र है। मनन या चिन्तनक्रिया भूत की ही उपज है जो परिपूर्णता की एक उच्च सीमा तक पहुँच चुका है, यानी मस्तिष्क का रूप प्राप्त किया है। यह मस्तिष्क मनन-क्रिया का साधनमात्र है; इसलिए मनन-क्रिया को भूत से पृथक् करना बड़ी भारी भूल है। एंगेल्स के शब्दों में:—

"भौतिक अस्तित्व और मनन, प्रकृति और जीवात्मा, के सम्बन्ध का प्रश्न ही दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर के ऊपर ही दार्शनिकों के दो मुख्य दलों की सृष्टि हुई है। जो जीवात्मा को प्रकृति से पहले मानते हैं वे आदर्शवादियों के दल में हैं और जो प्रकृति को पहले मानते हैं वे भौतिकवादियों के दल में हैं।" भूत और चिन्तन-क्रिया के प्रश्न पर मार्क्स का कहना है "चिन्तन-क्रिया को उस भूत से जो भूत की चिन्ता करता है, पृथक् करना असम्भव है।" लेनिन के शब्दों में "विश्व-चित्र यही है कि भूत किस प्रकार गतिमान है और उसकी चिन्तनक्रिया कैसी है।"

आदर्शवादी मतानुसार इस जगत् को और इसके नियमों को हम जान नहीं सकते। हमारे ज्ञान की वास्तविकता नहीं है। वस्तु-निर्भर सत्य का अस्तित्व नहीं है। यह जगत् वस्तु-स्वरूपों से परिपूर्ण है जहाँ विज्ञान की कोई पहुँच नहीं। मार्क्सीय दर्शन के अनुसार इस जगत् और इसके नियमों को हम पूरे तौर पर जान सकते हैं, हमारा ज्ञान जो प्रयोग और अनुभव-द्वारा प्राप्त है, वास्तविक ज्ञान है जिसको हम वाह्य-जगत् से मिलाकर जाँच सकते हैं। जगत् में कोई वस्तु अज्ञेय नहीं है; केवल यही कहा जा सकता है कि अभी हम इनको नहीं जानते लेकिन जिनका ज्ञान हमको प्रयोग और अनुभव के द्वारा प्राप्त हो जायगा।

कान्ट तथा दूसरे आदर्शवादियों के मत का खण्डन करते हुए कि

जगत् और वस्तु-स्वरूप अज्ञेय हैं और भौतिकबादी मत की पुष्टि करते हुए कि हमारा ज्ञान वास्तविक ज्ञान है, एंगेल्स लिखता है—

"इसका तथा अन्य दार्शनिक कल्पनाओं का उत्तर है प्रयोग और उद्योग। यदि हम किसी प्राकृतिक प्रक्रिया के विषय में अपनी कल्पना की सत्यता का प्रमाण उस वस्तु को स्वयं बनाकर ही दे सकें, उसको अपनी अवस्थाओं के बाहर उत्पन्न करके और इसके अलावा उसको अपने व्यवहारोपयोगी बनाकर, तब कैन्ट के वस्तु-स्वरूप का अन्त हो जाता है। उद्भिजों और पशुओं के शरीरों में जिन रासायनिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है वे इसी प्रकार के वस्तु-स्वरूप थे जब तक कि Organic Chemistry (जैविक रसायन-विज्ञान) ने एक के बाद एक प्रयोगशाला में उनको नहीं बनाया। उदाहरण के लिए नील को अब कोई पौधा जमाकर नहीं पैदा करता बल्कि अब यह तारकोल से बनाया जाता है, बहुत सरल उपाय से और सस्ते में। तीन सौ साल तक कोपरनिकस् की सूर्यमण्डली का तथ्य एक अनुमान था जिसकी सत्यता का पूरा पूरा अन्दाज़ था, लेकिन फिर भी वह एक अनुमान-मात्र था; अन्त में जब लभरियेर ने इस प्रथा की दी हुई गणनाओं से न केवल एक अज्ञात तारिका के अस्तित्व की प्रयोजनीयता का निर्देश किया बल्कि द्यूलोक में इसकी स्थिति का पता भी बताया और जब गाले ने इस तारिका को खोज निकाला तब कोपरनिकस् की प्रथा सत्य प्रमाणित हो गई।"

द्वन्द्वन्याय—हमारी प्रज्ञा कोई ईश्वरदत्त वस्तु नहीं है बल्कि इसके मूल में है व्यवहार और प्रयोग। इसकी आलोचना आगे चल कर की जायगी। यहाँ पर मार्क्स के भौतिकवाद को समझने के लिए पहले द्वन्द्व-मान के नियमों को जानना आवश्यक है।

द्वन्द्वमान (Dialctics) की व्युत्पत्ति है एक यूनानी शब्द से जिसका अर्थ है दो मनुष्यों के बीच वार्तालाप। इस वार्तालाप में एक तर्क की उत्थापना की जाती है फिर उसका खण्डन होता है जिससे नये तर्क की उत्थापना होती है और इस प्रकार वे एक नीचे दर्जे के सत्य

से ऊँचे दर्जे के सत्य पर पहुँचते हैं। यह एक क्रमोन्नति की प्रक्रिया है; इसमें स्थिरता नहीं है, वेग है। यही प्रक्रिया सारी प्रकृति में वर्तमान है। मानव-समाज और प्रकृति के इतिहास से ही द्वन्द्वमान के नियम निकाले गये हैं। ये नियम व्यापक रूप से सब प्रकार की गति के नियम हैं। इसके तीन नियम मुख्य हैं:—

(१) परिमाण का गुण मे तथा गुण का परिमाण मे परिवर्तन करने का नियम।

(२) विरोधियों के अन्तःप्रवेश का नियम तथा स्वयं विपरीतानुवर्तन का नियम।

(३) प्रतिषेध के प्रतिषेध का नियम।

इन तीनों नियमों का विस्तार हेगेल ने आदर्शवादी तरीक़े से विचार के नियमों के रूप में किया है। पहला नियम हेगेल के तर्कशास्त्र के पहले खण्ड में है जिसका नाम है "अस्तित्व का सिद्धान्त" (Doctrine of Being) दूसरा नियम दूसरे खण्ड में है जिसका नाम है "सत्ता का सिद्धान्त" (Doctrine of Essence)। तीसरा नियम है उसकी सारी प्रथा का बुनियादी नियम। मार्क्सवाद इन नियमों को प्राकृतिक नियमों के रूप में देखता है।

पहला नियम—पहले नियम को हम यों कह सकते है कि प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन भूत या गति के परिमाण में कमी या बेशी के कारण होता है। प्रकृति में गुणों का प्रभेद निर्भर है रासायनिक संगठन के प्रभेद पर या गति (या शक्ति) के परिमाण या रूप पर। इसलिए भूत या गति घटाये-बढ़ाये बिना किसी वस्तु के गुणों में परिवर्तन करना सम्भव नहीं।

दूसरा नियम—दूसरे नियम की पूर्ति हम यों भी कर सकते हैं कि हर एक वस्तु दो विरोधी भावों का संयोग है, यानी हर वस्तु में — और यही बात चिन्तन-क्रिया के लिए भी लागू है—दोनों पहलू हैं, भावात्मक और अभावात्मक, धनात्मक और ऋणात्मक। दूसरे शब्दों में सत्य-विरोधात्मक है। अतिभौतिकवादी इस सहज सत्य की उपलब्धि नहीं कर

सकता. इसलिए कि वह हर वस्तु को स्थिर रूप में देखता है, लेकिन यह जगत् और इसके पदार्थ सदा चञ्चल हैं।

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि गति-मात्र इस प्रकार के विरोधात्मक सत्य का उदाहरण है। किसी वस्तु के स्थान-परिवर्तन को हम यों ही समझ सकते हैं कि वह वस्तु एक ही समय पर एकाधिक स्थान पर है तथा एक ही स्थान पर है भी और नहीं भी है। इस विरोधाभास का हल है गति।

संख्याणु गणित (Differenfial Calculus) यह मान कर चलता है कि एक ही रेखा ऋजु और बक्र दोनों है और इस बुनियाद पर जो नतीजे निकलते हैं, उनका हम व्यवहारिक उपयोग करते हैं। एक असीम व्यास के वृत्त की परिधि के एक छोटे अंश को ले लीजिये। यह होगी एक ऋजु रेखा लेकिन एक वृत्त के अंश के नाते यह रेखा वक्र भी है। इसी प्रकार का एक उदाहरण और लीजिये। दो ऋजु रेखायें यदि किसी बिन्दु पर मिलतीं हैं तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि उस बिन्दु से थोड़ी ही दूर पर ये दोनों रेखायें समानान्तर हैं। गणित ही में और उदाहरण ले लीजिए। यह एक विरोधाभास है कि किसी संख्या के वर्गमूल को उसके वर्गफल के रूप में प्रकाशित किया जाय, जैसे $क^{\frac{1}{2}} = \sqrt{क}$। इससे भी अधिक कि कोई ऋणात्मक संख्या किसी संख्या का वर्ग हो सकती है, क्योंकि वर्गीकरण का यह साधारण नियम है कि ऋणात्मक संख्या का वर्ग घनात्मक होता है। लेकिन $\sqrt{-१}$ गणित का एक आवश्यक अंग है। [खण्डीकरण {Fractorisation} का उदाहरण $क^2 + ख^2 = (क + ख\sqrt{-१})\ (क - ख\sqrt{1})$]

भौतिक विज्ञान में विरोधियों के ऐक्य का उदाहरण है अणु। स्वय तड़ित् की अणु में क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं है। लेकिन यह जिन अंशों से बना है उसमें से एक घन-तड़ितात्मक है--**प्रोटन** और दूसरा ऋण-तड़ितात्मक है--इलेक्ट्रन।

जीवन तो सर्वथा विरोधमय है। वह हर समय कुछ है और कुछ अन्य भी है। ज्योंही इस विरोध का अन्त होता है, जीवन का भी अन्त हो जाता है।

विचार-क्षेत्र में भी यह विरोध विद्यमान है। मनुष्य की ज्ञान-शक्ति अपरिसीम है, लेकिन उसका वास्तविक ज्ञान सीमाबद्ध है।

अब परिमाण के गुणात्मक परिवर्तन के कुछ उदाहरण ले लीजिये।

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में सबको विदित है कि आलोक-तरंग एक प्रकार के (Electro Magnetic) तरंग हैं। इन तरंगों की लम्बाइयों के घटने-बढ़ने के कारण विभिन्न प्रकार की रश्मियों की उत्पत्ति होती है। जो आलोक मनुष्य की आँखों में दिखाई पड़ता है वह इन तरंगों का एक छोटा हिस्सा है। जिन रश्मियों को हम देखते हैं वे मुख्यतः सात रंग की हैं जो आरम्भ होती है लाल से और जिनका अंत होता है बैंगनी से। लाल के उधर इन तरंगों की लम्बाई बढ़ती जाती है और बैंगनी के उधर यह लम्बाई घटती जाती है।

एक साधारण उदाहरण है वस्तुकण (Mlecule) के अन्तिम विभाजन पर परमाणु (atom)की उत्पत्ति। परमाणु और वस्तुकण के गुणों में बहुत प्रभेद है।

जैविक रसायनशास्त्र के पैराफ़िन के प्रकार को ले लीजिये। उनका साधारण अंक है C_nH_{2n+2} जहाँ C है कार्बन (कोयला की जाति) H है हाइड्रोजन (उद्जान) और n (number), है अणुओं की संख्या। इन अणुओं की संख्या बढ़ाने से उस वस्तु के गुण में परिवर्तन हो जाता है और भिन्न पैराफ़िन की सृष्टि होती है। चर्बी-युक्त तेजाब (Fatty acids) का अंक है $C_nH_{2n}O_2$। इस संख्या को १, २, ३, करते जाइए तो निम्नलिखित Acids (तेजाब) पैदा होती हैं:—

फ़ॉर्मिक	––उबलने का ताप	१००°	द्रव होने का ताप १०°
ऐसेटिक	,, ,, ,,	११८°	,, ,, १७०°
प्रोपिओनिक	,, ,, ,,	१४०°	
बिउटिरिक	,, ,, ,,	१६२°	
वैलिरियानिक	,, ,, ,,	१७५°	

जिसका अन्तिम प्रकार है मेलिसिक ऐसिड $C_{30}H_{60}O_2$ जिसके उबलने का कोई ताप नहीं है क्योंकि उबलने मे पहले ही यह टूट जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि एक मात्रा CH_2 के बढ़ाने से उस एसिड पदार्थ में कैसा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। पैराफ़िनों के लिए भी यह लागू है। उस माला में पहली जगह है मिथेन की जो एक वायवीय पदार्थ है (CH_4); और अन्तिम स्थान है हेक्साडिकेन का जो बिना रंग का ठोस पदार्थ है, जिसके गलने का ताप है २१० और उबलने का ताप है २७८°।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पूँजी स्वयं एक ऐसा उदाहरण है। धन का एक निम्नतम परिमाण है जिसके रहने पर ही उसका स्वामी पूँजीपति कहला सकता है। मार्क्स ने उद्योग की किसी शाखा के एक श्रमिक का उदाहरण लिया है जो आठ घण्टे तक अपने लिये, यानी अपनी मज़दूरी का अर्थ उत्पन्न करने के लिए श्रम करता है और चार घण्टे अतिरिक्त अर्थ पैदा करने के लिए, जो उसके मालिक की जेब में जाता है। इस विशेष दृष्टान्त में यदि पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्थ के द्वारा मजदूर-श्रेणी का जीवन भी बिताना चाहता है तो उसके पास इतना धन होना चाहिए कि वह दो मज़दूरों के लिए मज़दूरी, कच्चा माल तथा उत्पादन के साधनों का बन्दोबस्त कर सके। लेकिन पूँजीपति का उद्देश्य केवल जीना नहीं है बल्कि अपनी सम्पत्ति की वृद्धि करना है। इसलिए इस धन का मालिक अभी पूँजीपति नहीं है। अब यदि पूँजीपति को मज़दूर से दुगुना अच्छा जीवन व्यतीत करना है और अतिरिक्त अर्थ का आधा कारोबार में फिर डालना है तो उसको आठ मज़दूरों को काम में लगाना चाहिए और पहले अर्थ-

है और कुछ बीच के स्तरों को पार कर व्यक्तिगत सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से ही कृषि का ऊँचे स्तर पर विकास होता है, लेकिन यह व्यक्तिगत सम्पत्ति ही आगे चल कर कृषि की उत्पादन-क्रिया के लिए बाधक स्वरूप हो जाती है। अब इसके प्रतिषेध की, और भूमि पर सामूहिक स्वामित्व की माँग होने लगती है। लेकिन यह मूल रूप से बहुत भिन्न होगा जिसमें आधुनिक आविष्कारों का पूरा उपयोग किया जा सकेगा।

दर्शन के क्षेत्र में स्वयं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही एक ऐसा उदाहरण है। पहले के भौतिकवाद का प्रतिषेध हुआ आदर्शवाद और इस आदर्शवाद का प्रतिषेध हुआ फिर भौतिकवाद। लेकिन यह भौतिकवाद यान्त्रिक भौतिकवाद नही बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इसका विशद विचार आगे चलकर किया जायगा। दार्शनिक क्षेत्र में एक और उदाहरण ले लीजिए—रूसो के समतावाद का तथ्य। रूसो के अनुसार, प्राकृतिक वर्बरयुग में सब मनुष्य समान थे। और चूँकि रूसो भाषा को भी इस प्राकृतिक अवस्था का विकार मानते हैं, उन्हें पूरा अधिकार है कि एक ही जाति के पशुओं के बीच की समता को उन पशु-मनुष्यों के लिए भी लागू करें जिनको हेकेल ने एक आनुमानिक श्रेणीयुक्त किया है—आलाली—मूक। लेकिन इन पशु-मनुष्यों को अन्य पशुओं की अपेक्षा एक सुविधा थी—उन्नति की शक्ति—और यही असमता का कारण थी। इसलिए असमता में रूसो उन्नति का कारण देखते हैं। लेकिन यह उन्नति विरोधपूर्ण थी—यह साथ ही साथ अवनति भी थी। उन्नति का मार्ग यही था कि मनुष्य व्यक्तिगत रूप से पूर्णता की ओर क़दम बढ़ाता लेकिन यही क़दम मनुष्य-जाति के लिए अवनति का भी क़दम था। सभ्यता का हर एक क़दम असमता की ओर अग्रसर होता था। यह निर्विरोध सत्य है और वैधानिक नियम का मूल सत्व भी है कि लोग सरदारों को चुनते हैं अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए न कि उसका अन्त करने के लिए। फिर भी ये सरदार अवश्य ही लोगों के सतानेवाले बन जाते हैं और यहाँ तक सताते

हैं कि यह असमता चरम सीमा पर पहुँचकर अपने विपरीत बन जाती है और समता का कारण बन जाती है, क्योंकि निरंकुश शासक के सामने सब समान हैं, सब शून्य है। लेकिन यह शासक तभी तक प्रभु है जब तक वह ज़बरदस्त है और जब वह निकाला जाता है तब ज़बरदस्ती की शिकायत नहीं कर सकता। शक्ति ही उसकी प्रभुता बनाये रखती है। अन्त में शक्ति से ही उसका पतन होता है। सब प्राकृतिक और सही रास्ते पर ही चलते है। इस प्रकार असमता फिर एक बार समता में रूपान्तरित हो जाती है—लेकिन यह मूक प्राथमिक मनुष्य की प्राकृतिक समता नहीं है, यह समाज-चुक्ति की उन्नत समता है। सतानेवाले सताये जानेवाले हो जाते हैं—प्रतिषेध का प्रतिषेध हो जाता है।

हमने यह देख लिया कि प्रतिषेध के प्रतिषेध का नियम प्रकृति, इतिहास ,और विचार-राज्य के विकास का नियम है जो पशु और उद्भिद् जीवन, गणितशास्त्र, इतिहास और दर्शन सब क्षेत्र के लिए लागू है। लेकिन यह ध्यान रहे कि इसका एक विकृत प्रयोग भी हो सकता है। जैसे यदि कोई कहे कि जौ के दाने को कुचल और मसल कर उसका प्रतिषेध होता है तब यह भूल होगी क्योंकि इसमें यदि प्रतिषेध होता भी है तो भी इसके पुन: प्रतिषेध की कोई सम्भावना नहीं है। इसलिए इस प्रकार का प्रतिषेध नियम के बाहर का प्रतिषेध है।

विचार-जगत् और द्वन्द्वन्याय—तर्कशास्त्र का साधारण नियम है "हाँ', हाँ है, और नहीं, नहीं है।" इसके विपरीत द्वन्द्वमान कहता है कि हाँ नहीं है और नहीं हाँ है। ऊपरी दृष्टि से द्वन्द्वमान की भाषा बहुत ही विरोधपूर्ण है। लेकिन कुछ विचार करने पर इसकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

तर्कशास्त्र के तीन बुनियादी नियम है। (१) एकता का नियम, (२) विरोध का नियम और (३) मध्य परिहार का नियम।

पहले नियम के अनुसार 'क' है 'क', या 'क' = 'क'। दूसरा नियम पहले नियम का नकारात्मक रूप है। इसका रूप है 'क' नहीं है न 'क'।

नीसरे नियम के अनुसार किसी के लिए दो विरोधी गुण एक साथ सत्य नहीं हो सकते। वास्तव में या तो 'क' 'ख' है या 'क' 'ख' नहीं है। यदि इनमें से एक बात सत्य है तो दूसरी असत्य है और यदि दूसरी सत्य है तो पहली असत्य है। इनके मध्य में कोई बात नही हो सकती।

युबेरवेग के निर्देशानुसार दूसरे और तीसरे नियमों को इस प्रकार मिलाया जा सकता है -- किसी विशिष्ट प्रश्न का कि किसी वस्तु-विशेष का अमुक गुण है या नहीं, उत्तर हो सकता है हाँ या नहीं, 'हाँ' और 'ना' दोनों में उसका उत्तर नही दिया जा सकता।

इन नियमों में कोई भूल नहीं मालूम पड़ती। फिर द्वन्द्वमान का नियम क्योंकर सही है? प्रकृति में ही इसका उत्तर मिल जाता है, जिसका विवरण पीछे दिया जा चुका है और अभी आगे चलकर फिर दिया जायगा।

अतिभौतिक विचार-प्रणाली की, जो कि तर्कशास्त्र में प्रकाश पाती है, गड़बड़ी यह है कि व्यष्टि और समष्टि, इकाई और समूह, सब को एक साथ मिला दिया जाता है।

इसलिए जब मैं कहता हूँ कि राम मनुष्य है तो मेरा अर्थ यह है कि 'राम' मनुष्य जाति का एक विशिष्ट नमूना है। 'राम' को मैं तब समझ पाता हूँ जब इसके व्यापक रूप मनुष्य, से मिलान करता हूँ।

अतिभौतिक विचार शैली यह मान कर चलती है कि व्यापक श्रेणी (General Category) मनुष्य और विशिष्ट श्रेणी 'राम' स्वतन्त्र रूप से विराजमान हैं, जो परस्पर निर्भर नहीं हैं, कि मनुष्य-जाति का साधारण व्यापक रूप राम, श्याम, हरि आदि सृष्टि के सब विशिष्ट मनुष्यों के बहुत ऊपर विराजमान है और रहेगा चाहे विशिष्ट मनुष्य सब के सब मिट क्यों न जाएँ।

इसी प्रकार निश्चित परिमाणों में उद्जान और अम्लजान के मिश्रण से पानी बनता है। अतिभौतिकवाद के लिए पानी में अम्लजान और उद्जान का पृथक् अस्तित्व बना रहता है। केवल तर्कन्याय में पानी तथा अम्लजान और उद्जान का एकीकरण होता है। रहस्यमय कल्पना इससे

यह परिणाम निकालती है कि अम्लजान और उद्जान तथा पानी सभी एक साथ आस-पास रहे हैं और अनंत काल तक रहेंगे।

द्वन्द्वमान इस स्थावर अतिभौतिकता क भेद कर जाता है। मनुष्य शब्द में सब सम्भव मनुष्य सम्मिलित है। लेकिन "मनुष्य जाति" और मनुष्यगण यद्यपि भिन्न और पृथक् तार्किक श्रेणियाँ (Categories) हैं लेकिन केवल तार्किक दृष्टि से ही वे ऐसे हैं—एक ही घटनावलि के देखने के लिए ये विभिन्न दृष्टिकोण हैं। व्यापकता के दृष्टिकोण से अर्थात् उस दृष्टिकोण से, जिसमें एक ही मनुष्य-जाति का सदस्य होने के नाते सब एक समान हैं; "मनुष्य-जाति" है सब मनुष्यों की समष्टि। "मनुष्य गण" इसी घटना की, सब मनुष्यों की समष्टि की ही एक और कल्पना है, लेकिन इस अर्थ में कि कोई भी मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के समान नहीं है। द्वन्द्वमान के लिए विशेष और व्यापक (साधारण), एक और सर्व (Universal), बावजूद इनके तार्किक विरोध के, एक दूसरे में और एक दूसरे के द्वारा अवस्थित हैं। 'राम' का 'रामपन' उसके मनुष्यपन से पृथक् रूप में न रह सकता है न उसके रहने की कल्पना की जा सकती है। मनुष्य को मनुष्य रूप में हम जानते हैं उस साधारण गुण से, जो सब विशिष्ट मनुष्यों में विद्यमान है; और हर विशिष्ट मनुष्य की पहचान तभी हो सकती है जब व्यापक मनुष्य-रूप से उसकी भिन्नता को दिखलाया जाय।

हेगेल के तर्कशास्त्र का यही गुण है कि वह विरोधियों के एकत्व को मानता है और उनको श्रेणीबद्ध करता है (तार्किक रूप में) एक ओर पूर्णरूप से व्यापक और दूसरी ओर पूर्ण रूप से एक।

हेगेलीय भाषा में पानी दो विरोधियों का, उद्जान और अम्लजान का एकत्व है। ये विरोधी तार्किक रूप से हैं—इस अर्थ में कि एक वह है जो दूसरा नहीं है। ये विरोधी मिलते हैं और मिलकर जो चीज़ बनती है वह न उद्जान है और न अम्लजान। गुणात्मक रूप से दोनों का अन्तर्ध्यान हो गया है और बिलकुल नये गुणों के संयोग की सृष्टि हो गई है;

परिमाण तो उतना ही रहता है, लेकिन रूप परिवर्तित हो जाता है। पानी = अम्लजान + उद्जान। और यह समानता नहीं भी है। अधिक सही बात यह है कि पानी अम्लजान और उद्जान का एक नया सम्बन्ध है।

एक और उदाहरण दे देने पर विषय अधिक सुगमता-पूर्वक बोधगम्य हो जायगा।

हेगेल के जिस तर्क के कारण वह दुर्बोध्य समझा जाता है वह है—"अस्तित्व और नास्तित्व एक है।" हेगेल के कथनानुसार तर्कशास्त्र तथा दूसरे विज्ञानों में अन्तर यही है कि इनको विधिवद्ध करने के लिए तर्कशास्त्र की आवश्यकता है लेकिन तर्कशास्त्र को विधिवद्ध करने के लिए दूसरा कोई शास्त्र आवश्यक नही है। तो इसका आरम्भ कैसे किया जाय?

तर्कशास्त्र के अनुसार आरम्भ क्या है? यह कुछ (अस्तित्व) नहीं है क्योंकि यह आरम्भ-मात्र है। लेकिन इसी कारण से यह कुछ नहीं भी नहीं हो सकता। इस प्रकार आरम्भ न अस्तित्व है न नास्तित्व है। और साथ ही साथ यह दोनों ही है तथा एक का दूसरे में रूपान्तर है। संक्षेप में यह होने की एक क्रिया है जिसमें अस्तित्व और नास्तित्व की साधारण बुनियाद है।

इस तर्क को वास्तविकता के रूप में देखिए। राम है एक मनुष्य। मनुष्य एक श्रेणी (Category) है जिसमें सब मनुष्य सम्मिलित हैं। मैं राम का अरामों से प्रभेद करता हूँ उन चीज़ों को देखकर जो उसमें नहीं हैं, किन्तु दूसरों में हैं। लेकिन इस प्रभेद का अर्थ यही है कि अपने विशिष्ट गुणों के अलावा वह और मनुष्यों के समान है। इस प्रकार तार्किक दृष्टि से 'राम' का पूरा ज्ञान हो जाता है जब उसकी कल्पना "विशिष्ट राम" तथा सर्वसाधारण अ–रामों (सब मनुष्यों) के एकत्व के रूप में की जाय।

यह सत्य एक सहज और महान् सत्य है। शुद्ध सत्ता—तार्किक सत् विशुद्ध होने ही के कारण (यानी व्यावहारिक वास्तव के अभाव के कारण) विशुद्ध असत् से अभिन्न है। विशेष गुणों के द्वारा ही एक वस्तु को दूसरी

से अलग किया जा सकता है और इस अलग करने का अर्थ ही है दो बातों का एक साथ कहना—भावात्मक रूप से कि यह वस्तु यह है और अभावात्मक रूप से कि यह वस्तु नहीं है। इस प्रकार विचार में एक वस्तु को दूसरे से पृथक करना हाँ और ना दोनों करना है और इसमें विरोध और पुनर्मिलन दोनों हैं। समरूपता और पार्थक्य दोनों का रहना आवश्यक है, नहीं तो एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

यही तथ्य है सत् और असत् के एकत्व का। हेगेल की इस तार्किक प्रथा का रूप है वाद, (Thesis) प्रतिवाद, (Antithesis) और समन्वितवाद (Synthesis)। दूसरे शब्दों में भाव, अभाव, तथा अभाव का अभाव या प्रतिषेध का प्रतिषेध। इस त्रिगुट सम्बन्ध की विशेषता यह है कि ये एक साथ विराजमान रहते हैं, एक के बाद दूसरे का आविर्भाव नहीं होता। जब मैं कहता हूँ कि 'राम मनुष्य है' तो राम और अराम का विरोध तथा उनका साथ-साथ अस्तित्व इन सब की कल्पना एक साथ करता हूँ। यह सही है कि मेरे मन में जो तर्क की क्रिया होती है उसमें मैं इन दोनों के पृथक्करण का पहले एक सिरा फिर दूसरा सिरा और फिर दोनों का सम्बन्धित अस्तित्व देखता हूँ। लेकिन वास्तव में इस त्रिगुट सम्बन्ध का अस्तित्व आरम्भ से ही है और तर्क-क्रिया इस अस्तित्व को मान लेती है। हेगेल ने लिखा है कि इस त्रिगुट क्रिया को हम चतुष्क्रिया के रूप में भी देख सकते हैं। पहला है अविभाजित एक। दूसरा विभाजन (१) भावात्मक तथा (२) अभावात्मक। फिर विभाजित रूप में उस एक की पुनःस्थापना। जीवन-संघर्ष में अवयव द्वारा परिवर्तनीयता और वंशानुक्रमिकता के विरोधी ऐक्य का प्रदर्शन अवयब के विकास का मुख्य स्तम्भ है।

विरोधियों के एकक के नियम को हेगेल ने इस भाषा में लिखा है:—
"यह समझा जाता है कि भाव और अभाव का अन्तर अमिट है। लेकिन तह में ये दोनों चीजें एक हैं। कोई एक नाम दूसरे मे परिवर्तित हो

सकता है। इस प्रकार जमा और उधार सम्पत्ति के दो विशेष प्रकार नहीं हैं। क़र्ज़ लेनेवाले के लिए जो अभाव है, देनेवाले के लिए वह भाव है। पूरब का रास्ता पश्चिम का भी रास्ता है। भाव और अभाव एक दूसरे के ऊपर निर्भर हैं और परस्पर सम्बन्ध में ही इनका रूप प्रकाशित है। चुम्बक पत्थर का उत्तरी ध्रुव बिना दक्षिणी ध्रुव के नहीं रह सकता। किसी चुम्बक को दो भागों में काटने पर एक हिस्से में उत्तरी और दूसरे में दक्षिणी ध्रुव नहीं रहता। इसी प्रकार बिजली की दो धारायें, धनात्मक और ऋणात्मक एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं होतीं।

प्रकृति के दृश्यगत घटनाओं के मूल में है भूत की गति। इसका विरोध तो स्पष्ट है। यदि कोई पूछे कि कोई गतिशील पदार्थ किसी विशेष समय पर किसी स्थान पर है या नहीं, तो युबेरवेग के नियम के अनुसार आप इसका उत्तर नहीं दे सकते कि 'हाँ' 'हाँ' है और 'नहीं' है 'नहीं'। गतिशील पदार्थ एक बिन्दु पर है भी और नहीं भी है।

इसका विचार हम इसी संकेत से कर सकते हैं कि 'हाँ' 'नहीं' है और 'नहीं' 'हाँ'। गतिशील पदार्थ "विरोध के तर्क" की अकाट्य दलील है और जो इस तर्क को नहीं मानता, उसको ज़ेनो के साथ कहना पड़ेगा कि गति इन्द्रियों का भ्रम-मात्र है। जो ऐसा नहीं मानते उनसे पूछिये कि युबेरवेग के तर्कशास्त्र के बुनियादी नियम को मानकर गति का त्याग करेंगे अथवा गति को मान कर इस बुनियादी नियम का परिहार करेंगे?

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति की दृश्यगत घटनाओं की बुनियादी बात है भूत की गति। लेकिन गति एक विरोध है। इसका विचार द्वन्द्वमान के नियम से किया जाना चाहिए अर्थात् इस संकेत से कि 'हाँ' नहीं है और 'नहीं' है 'हाँ'। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि दृश्यगत घटनाओं के सम्बन्ध में हम 'विरोधी तर्क' के राज्य में हैं। लेकिन गतिशील भूत के अणुओं के संयोग से वस्तुओं की सृष्टि होती है। यह संयोग कम या अधिक क्षणस्थायी होकर तिरोहित हो जाता है और दूसरे संयोग इसका स्थान ले लेते हैं। जो अनंत है वह है भूत की गति। जब बाहरी

गति के कारण भूत के एक विशिष्ट संयोग का आविर्भाव होता है और गति ही के कारण जब तक इसका अन्तर्ध्यान नहीं होता, तब तक इसके अस्तित्व के प्रश्न को भावात्मक रूप से ही हल किया जा सकता है। यही कारण है कि यदि कोई बुध ग्रह को दिखाकर हम से पूछे कि इसका अस्तित्व है या नहीं, तो हम निःसंकोच यह उत्तर देंगे कि 'हाँ' है। इसका अर्थ यह है कि स्पष्ट वस्तुओं के सम्बन्ध में हम युबेरवेग के ही नियम का अनुसरण करेंगे। इस राज्य में 'हाँ' 'हाँ' है और नहीं' 'नहीं' का ही संकेत लागू होता है।

लेकिन इस नियम का राज्य अवाध नहीं है। जब कोई वस्तु उत्पत्ति की अवस्था में है तो उसका उत्तर देने में कुछ संकोच होता है। जब हम किसी मनुष्य को देखते हैं जिसके सर के बाल काफ़ी उड़ गये हैं तो हम कहते हैं कि वह गंजा हो गया है। लेकिन सठीक उस मुहूर्त का निश्चय हम कैसे करें जब यह कहा जा सके कि वह गंजा हो गया?

किसी विशिष्ट प्रश्न का कि अमुक वस्तु का अमुक गुण है या नहीं, 'हाँ' या 'ना' में ही उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन जब कोई वस्तु परिवर्तन की स्थिति में है, किसी विशेष गुण का उसमें संयोग या वियोग हो रहा हो, तब इसका उत्तर किस भाषा में दिया जाय? पूर्व संकेत मे ही इसका उत्तर दिया जा सकता है—'हाँ' 'नहीं' है तथा 'नहीं' है 'हाँ' म। युबेरवेग के नियम के अनुसार इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता।

यह एतराज़ किया जा सकता है कि जिस गुण का वियोग हो रहा है उसका अभी अन्तर्ध्यान नहीं हुआ और जिस गुण का संयोग हो रहा है वह पहले से ही वर्तमान है, इसलिए 'हाँ' या 'ना' में इसका उत्तर असम्भव ही नहीं बल्कि वाध्यतामूलक है, चाहे वह वस्तु परिवर्तन की ही क्रिया में क्यों न हो। लेकिन यह एतराज़ ग़लत है। जिस युवक की ठोढ़ी पर दाढ़ी की रेख उग रही हो उसको दाढीवाला नहीं कहा जायगा, यद्यपि यह रेख धीरे-धीरे दाढ़ी में परिणत हो रही है। गुणात्मक परिवर्तन के

लिए परिमाण की एक सीमा तक पहुँचना आवश्यक है। जो इसको भूलता है वह वस्तुओं के गुणों के सम्बन्ध में स्पष्ट राय नहीं दे सकता।

एफ़िसियस के प्राचीन दार्शनिक ने कहा था कि सभी चीजें परिवर्तन-शील हैं, सभी परिवर्तित हो रही हैं। जिन संयोगों को हम वस्तु नाम देते हैं वे सदा ही परिवर्तन की स्थिति में हैं। जब तक ऐसे संयोगों का अनुपात क़ायम रहता है उनका विचार हम हाँ हाँ और नहीं नहीं के संकेत से कर सकते हैं। लेकिन जिस समय उनमें ऐसा परिवर्तन होता है कि वह पहला अनुपात नहीं रहता तब उनका विचार विरोध के तर्क से ही हो सकता है। हमें हाँ और ना दोनों मे उत्तर देना पड़ेगा—वह है भी और नहीं भी है।

जैसे स्थिरता गति का एक विशिष्ट प्रकार है उसी तरह साधारण तर्कशास्त्र द्वन्द्वमान तर्क का एक विशेष प्रकार है। प्लेटो के शिष्य क्रैटिलस के विषय में कहा जाता है कि जब हेराक्लिटस ने कहा कि एक ही नदी मे हम दो बार प्रवेश नही कर सकते तो उसने कहा कि एक बार भी हम उसमें प्रवेश नहीं कर सकते क्योंकि प्रवेश करते करते उसमें परिवर्तन होता रहता है, वह एक दूसरी नदी हो जाती है। ऐसी राय में होने की क्रिया (Becoming) को उसके अस्तित्व से अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह द्वन्द्वमान का अपव्यवहार है। हेगेल का कहना है कि "कुछ" सर्वप्रथम "प्रतिषेध का प्रतिषेध" है।

यह पहले कहा जा चुका है कि गति कार्य का एक विरोधाभास है, इसलिए साधारण तर्कशास्त्र के बुनियादी नियम इसके लिए लागू नहीं हैं। लेकिन इसको कुछ विशद रूप से समझने की आवश्यकता है। जब एक प्रकार की गति दूसरे में परिवर्तित होती है, जैसे, उदाहरण के लिए यान्त्रिक गति का ताप में परिवर्तन—तो युबेरवेग का नियम इस क्षेत्र में लागू होगा। यह गति या तो यान्त्रिक है या ताप है—इत्यादि। इसका अर्थ यह है कि एक सीमित क्षेत्र में गति के लिए भी साधारण तर्कशास्त्र के नियम लागू हैं। लेकिन इससे यही सिद्ध होता है कि द्वन्द्वमान साधारण

तर्कशास्त्र को दबा नहीं देता केवल उसको वह सर्वमान्यता नहीं देता जो अतिभौतिकवादियों द्वारा उसको प्राप्त है।

पाठकों ने अब देख लिया होगा कि द्वन्द्वमान और भौतिकवाद का आपस में कोई विरोध नहीं है। वास्तव में द्वन्द्वमान की बुनियाद ही भौतिकवाद है। यदि प्रकृति की भौतिकवादी धारणा का अन्त हो जाय तो साथ ही द्वन्द्वमान का भी अन्त हो जायगा।

हेगेल की प्रथा में द्वन्द्वमान और अतिभौतिकवाद दोनों समानार्थ-सूचक हैं। मार्क्सीय दर्शन में द्वन्द्वमान प्राकृतिक सिद्धान्त के सहारे खड़ा है।

हेगेल की प्रथा में वास्तव की जनक है पूर्ण की धारणा। भौतिक-वादी के लिए, पूर्ण की धारणा केवल एक पृथक्करण है, उस गति से, जिसके द्वारा सब संयोग तथा भूत की अवस्थायें उत्पन्न होती है।

हेगेल के अनुसार धारणाओं में जो विरोध हैं उनके आविष्कार और हल से ही विचारधारा आगे बढ़ती है। भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार धारणाओं में अवस्थित विरोध उन विरोधों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं जो दृश्य-गत जगत् में वर्तमान है और जिनका मूल कारण प्रकृति का अन्तर्विरोध यानी उसकी गति है।

हेगेल के अनुसार घटनाओं के विस्तार को समझने के लिए विचार के विस्तार को जानना चाहिए। भौतिकवाद के लिए विचारों के विस्तार का भेद है वस्तुओं का विकास।

अतिभौतिकवाद और द्वन्द्वमान—अतिभौतिकवादी विचार में प्रकृति वस्तुओं और दृश्यगत घटनाओं का एक आकस्मिक बटोर है जहाँ वे एक दूसरे से विच्छिन्न तथा स्वतन्त्र हैं। इसके विपरीत द्वन्द्वमान इन वस्तुओं और दृश्यगत घटनाओं को एक सूत्र में बाँधता है जिसमें उनकी पारस्परिक निर्भरता प्रकाश पाती है।

इसलिए द्वन्द्वमान के अनुसार किसी प्राकृतिक घटना को स्वतन्त्ररूप से, अपने बहिरावेष्टन से अलग कर, नहीं समझा जा सकता। क्योंकि ये

इन बहिरावेष्टनों से सम्बन्धित हैं और अपनी पारिपार्श्विक अवस्था द्वारा सीमित हैं।

अतिभौतिकवाद के विपरीत द्वन्द्वमान यह मानता है कि प्रकृति की अवस्था स्थिर और गतिहीन नहीं है, बल्कि अविराम गति और परिवर्तन की अवस्था है, अविराम नवीनता और विकास की अवस्था है जहाँ किसी न किसी चीज़ का उत्थान और विकास होता है और किसी न किसी चीज़ का ध्वंस और निर्माण।

इसलिए द्वन्द्वमान के तरीक़े की यह माँग है कि दृश्यगत घटनाओं का विचार न केवल उनके पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी पारस्परिक निर्भरता के दृष्टिकोण से होना चाहिए बल्कि उनकी गति, उनका परिवर्तन, विकास, आविर्भाव और अन्तर्ध्यान की दृष्टि से भी होना चाहिए।

द्वन्द्वमान का तरीक़ा मुख्य रूप से उसको महत्त्व नहीं देता जो उस मुहूर्त में स्थायी और दृढ़ मालूम होता हो, लेकिन जिसका अन्त होना आरम्भ हो गया हो, बल्कि उसको जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो यद्यपि उस क्षण में वह भंगुर ही मालूम पड़ रहा हो, क्योंकि द्वन्द्वमान उसी को अजेय मानता है जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो।

एंगेल्स के शब्दों में सारी प्रकृति, छोटी से छोटी से लेकर बड़ी से बड़ी चीज़, एक बालू के कण से सूर्य तक, प्रोटिस्टा (प्राथमिक जीवित कोष) से मनुष्य तक, लगातार आविर्भाव और तिरोधान की अवस्था में हैं, सदा परिवर्तनशील है और परिवर्तन की अवस्था में है।

इसलिए एंगेल्स का कहना है, द्वन्द्वमान वस्तुओं और उनके मानसिक प्रतिबिम्बों को उनके पारस्परिक सम्बन्ध और संयोग में, उनकी गति, उनके उत्थान और अन्तर्ध्यान में देखता है।

अतिभौतिकवाद के विपरीत द्वन्द्वमान विकास की क्रिया को सामान्य वृद्धि के रूप में, जहाँ परिमाण की वृद्धि और ह्रास से गुणों का परिवर्तन नहीं होता, नहीं देखता, बल्कि ऐसे विकास के रूप में देखता है, जो नगण्य और अदृश्य परिवर्तन से बुनियादी गुणों के परिवर्तन के रूप में

परिणत होता है। इस विकास में गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं होता बल्कि एकाएक और द्रुतगति से, जो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में कुदान का रूप लेता है। यह आकस्मिक रूप से घटित नहीं होता बल्कि क्रम-वर्द्धमान परिमाणात्मक परिवर्तनों के संग्रह का परिणाम है।

द्वन्द्वमान के तरीके के लिए यह आवश्यक है कि इस विकास की क्रिया को हम चक्रगति के रूप में न देखें, न इस रूप में कि जो कुछ पहले घटित हो चुका है उसकी सामान्य पुनरावृत्ति हो रही है बल्कि एक अग्रगति और ऊर्द्धगति के रूप में, एक गुणात्मक अवस्था से दूसरी नई गुणात्मक अवस्था में परिवर्तन के रूप में, साधारण से असाधारण, निम्न-स्तर से उच्चस्तर पर विकास के रूप में।

एंगेल्स के शब्दों में प्रकृति द्वन्द्वमान का परीक्षास्थल है। यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक प्रकृति-विज्ञान ने इसके प्रभूत उदाहरण दिये हैं जो प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं और इस प्रकार यह प्रमाणित कर दिया है कि अन्तिम विश्लेषण करने पर प्राकृतिक प्रक्रिया अतिभौतिक नहीं बल्कि द्वन्द्वात्मक है, यह कि अनन्तकाल से यह किसी चक्रगति में नहीं घूमती बल्कि इसका एक इतिहास है। यहाँ डारविन का नाम सर्वप्रथम है जिसने यह प्रमाणित कर कि आज की सावयव दुनिया, उद्भिज और पशु और इस प्रकार मनुष्य भी कोटिशः वर्षों की विकास-क्रिया का परिणाम है, प्रकृति की अतिभौतिक कल्पना पर प्रचण्ड आघात किया।

द्वन्द्वात्मक विकास का विवरण देते हुए कि यह परिमाणात्मक परिवर्तन की परिणति है एंगेल्स कहता है :—

"भूतविज्ञान में प्रत्येक परिवर्तन परिमाण का गुण में परिवर्तन है। यह परिमाण किसी न किसी प्रकार की गति का परिमाण है जो या तो वस्तुविशेष में वर्तमान है या उसको दी जाती है। उदाहरणार्थ पानी के उत्ताप को एक सीमा तक बढ़ाते हुए उसकी द्रवावस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन ज्यों ज्यों यह उत्ताप बढ़ता या घटता है, एक क्षण आता है जब पानी की अवस्था में परिवर्तन होता है और एक दशा

में यह भाप बन जाता है, और दूसरी दशा मे बर्फ़। किसी प्लैटिनम के तार को इतना गर्म करने के लिए कि वह चमक सके एक निश्चित परिमाण की बिजली आवश्यक है; हर खनिज पदार्थ के गलने का एक विशेष उत्ताप होता है। हर द्रव पदार्थ के ठोस और भाप बनने का एक विशेष उत्ताप होता है। हर वायवीय पदार्थ के लिए एक निश्चित विन्दु है जब उचित ठंढक और दबाव के प्रयोग से उसको तरल पदार्थ में परिणत किया जा सकता है। पदार्थविज्ञान मे जिनको स्थिरसंज्ञक माना जाता है वे अधिकांश क्षेत्र मे वही विन्दु है, जब गति की वृद्धि या ह्रास से वस्तु-विशेष में गुणात्मक परिवर्तन होता है।" ऐसी स्थिर संज्ञा का उदाहरण है वह कोण जिस पर आलोक-रश्मि का पर वर्तन (Refraction) होकर सीधा प्रतिफलन (Reflection)। होता है।

रसायनशास्त्र पर विचार करते हुए एंगेल्स आगे चल कर कहता है :--

"रसायनशास्त्र के विज्ञान का सार यह है कि वस्तुओं में परिमाणात्मक परिवर्तन के फल-स्वरूप उसके गुणों मे परिवर्तन होता है, हेगेल को इसका ज्ञान था। अम्लजान को लीजिए। यदि इसके अणु में, दो न होकर तीन परमाणु हों, तो यह ओज़ोन बन जाता है, जिसका गुण साधारण अम्लजान से भिन्न है।"

अतिभौतिकवाद के विरुद्ध द्वन्द्वमान यह समझता है कि सब वस्तुओं मे तथा दृश्यगत घटनाओं में अन्तर्विरोध वर्तमान है, क्योंकि इनके एक भावात्मक और अभावात्मक कोण हैं, एक भूत तथा भविष्य है, इनमें कुछ है जिसका विकास हो रहा है। परिमाणात्मक परिवर्तनों की गुणात्मक परिवर्तनों में परिणति तथा विकास-क्रिया की भीतरी बात है इन विरोधियों का संघर्ष, पुराने और नये में, जिसका विनाश हो रहा है और जिसका जन्म हो रहा है उसमें, जो अदृश्य हो रहा है तथा जिसका विकास हो रहा है, उसमें।

द्वन्द्वमान के अनुसार निम्नस्तर से ऊँचे स्तर पर विकास को हम साधारण पट-परिवर्तन के रूप में नहीं देखते बल्कि वस्तुओं और दृश्यगत

घटनाओं में वर्तमान विरोध के रूप में तथा इन विरोधों की बुनियाद पर क़ायम दो विपरीत गतियों के संघर्ष के रूप में । लेनिन के शब्दों में द्वन्द्वमान वस्तुओं की सत्ता के आन्तरिक विरोध का अध्ययन है। लेनिन ही के शब्दों में विकास विरोधों के संघर्ष का नाम है।

द्वन्द्वमान तथा साधारण तर्कशास्त्र—द्वन्द्वमान प्रतिदिन के साधारण तर्कशास्त्र का स्थानापन्न नहीं हो सकता जिस प्रकार बीजगणित या संख्याणुगणित अंकगणित का स्थान नहीं ले सकते। जिस प्रकार अंकगणित की सीमा के बाहर की समस्याओं को हल करने के लिए गणित की उच्च शाखाओं का प्रयोग किया जाता है—उदाहरणार्थ उन समस्याओं का जिनमें अज्ञात और परिवर्तनीय परिमाण या संख्या और उनके सम्बन्धों का विचार होता है—उसी प्रकार द्वन्द्वमान गतिशील सम्बन्धों और क्रियाओं का साधारण तर्कशास्त्र के दायरे में लाने का साधन है, क्योंकि साधारण तर्कशास्त्र केवल स्थिर सम्बन्धों को लेकर चलता है। द्वन्द्वमान उसी को लेकर कार्यारम्भ करता है जिसको अपने दायरे के बाहर रख छोड़ने के लिए साधारण तर्कशास्त्र मजबूर है—वह यह कि किसी वस्तु को अपने ही द्वारा समझा नहीं जा सकता। इसको यों ही समझा जा सकता है कि यह और किसी वस्तु से आया, और किसी अन्य वस्तु की ओर यह जा रहा है और इसकी गति का कारण है इसके और इसके बहिरावेष्टन के बीच का एक क्रियाशील सम्बन्ध। इसलिए द्वन्द्वमान प्रत्येक वस्तु को अन्य वस्तुओं के बीच पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप गति का मूर्तरूप ही समझता है। गत्युत्पादक विपरीतानुवर्तन, विरोध और संघर्ष (जो परिवर्तन और विकास का भी जनक है) के बिना द्वन्द्वमान असम्भव हो जाता। गति और उसके रूपान्तरण के अध्ययन के लिए द्वन्द्वमान अत्यावश्यक है। लेकिन जहाँ रूप, सार और सम्बन्ध का विकार तुलनात्मक रूप से नहीं होता वहाँ साधारण तर्कशास्त्र का प्रयोग ही सिद्ध है।

यान्त्रिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—पहले ही कहा जा चुका है

कि अठारहवीं शताब्दी का भौतिकवाद और हेगेल का द्वन्द्वमान दोनों मार्क्सवाद की बुनियाद हैं। लेकिन हेगेल का द्वन्द्वमान आदर्शवादी है और अठारहवीं शताब्दी का भौतिकवाद यान्त्रिक भौतिकवाद है। आदर्शवाद और भौतिकवाद का प्रभेद पहले ही दिया जा चुका है। यान्त्रिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मुख्य प्रभेद दो हैं:—

(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्य के वास्तविक भौतिक अस्तित्व के स्थूल सत्य को लेकर चलता है। यह उस अतिभौतिकवादी तरीक़ों का तिरस्कार करता है जो विश्वसंसार के विषय में एक कल्पित मत का प्रचार करना चाहता है। जैसे यह एक है या अनेक, यह युक्त है या विच्छिन्न इत्यादि।

(२) इस बात पर ज़ोर देते हुए कि प्रत्यक्षीकरण और प्रत्यक्षीभूत कल्पना का रूप प्रतिबिम्ब का रूप है (बाहरी दुनिया का), द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस ओर भी दृष्टि आकर्षित करता है कि यह मानसिक क्रिया क्रियाशील है, यह निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। इसके अनुसार विचार, भूत जिसका वास्तविक अस्तित्व है, जो क्रियाशील और इसलिए विकासमान है, की सम्बन्धित सम्पूर्णता, और जीवित मनुष्य के बीच व्यावहारिक सम्बन्ध का परिणाम है। यान्त्रिक भौतिकवाद विश्व को मशीन की तरह एक प्रणालीबद्ध रूप में देखता है जबकि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसको एक असीम सृजनात्मक क्रिया के रूप में देखता है।

मनुष्य के मानसिक तथा बाहरी वस्तुओं के संयोग-जनित, व्यवहार ने यह सिद्ध किया कि जिस दिशा में प्राचीन भौतिकवादी सत्य को खोजना चाहते थे वह वहाँ नहीं है; उसको खोजने के लिए दूसरी दिशा को जाना पड़ेगा। मनुष्य का विचार जिस सत्य को पहुँच सकता है वह अनन्त-काल के लिए सम्पूर्ण सत्य नहीं है, जिसका अस्तित्व ऐसे पुरुष के लिए है जो मनुष्य के राग-द्वेष और ससीमता से मुक्त हो। जिस सत्य को मनुष्य पहुँच सकता है वह उन सम्बन्धों, जिनके अन्दर मनुष्य जीता है, चलता-फिरता है और रहता है, का एक विकासमान समन्वय है। यह

आपेक्षिक सत्य है क्योंकि यह कुछ पारस्परिक सम्बन्धों तथा क्रिया प्रति-क्रियाओं का रूप है, जिनको हम उन सम्बन्धों के अन्दर से ही देखते हैं। पुनः परिमाण की दृष्टि से भी यह आपेक्षिक है, क्योंकि इसमें सदा वृद्धि होती रहती है और अधिकतर वृद्धि प्राप्ति करने की इसमें शक्ति है। लेकिन गुणात्मक दृष्टि से और तुलनात्मक रूप में यह सत्य पूर्ण भी है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नहीं तथापि जहाँ तक यह प्रयोग-सिद्ध है वहाँ तक यह सत्य ही है।

सिद्धान्त और प्रयोग, पूर्णता और आपेक्षिकता, पुरानी अवस्था का जारी रहना और परिवर्तित होना, क़ायमी अवस्था और वृद्धि, इन विरोधियों के एकत्व में ही कैंट के पूर्व यान्त्रिक भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभेद है।

एंगेल्स के शब्दों में:—

"पिछली सदी में भौतिकवाद का रूप यान्त्रिक होने का कारण यह था कि उस समय प्रकृति विज्ञान की शाखाओं में यन्त्र-विज्ञान का ही काफ़ी विस्तार हो चुका था। देकार्ते के लिए पशु जैसे एक मशीन था, अठारहवीं सदी के भौतिकवाद के लिए मनुष्य भी वैसे ही था। उस समय के फ़्रांसीसी भौतिकवाद की यह संकीर्णता थी कि वह हर प्रक्रिया के सम्बन्ध में यन्त्रवाद का प्रयोग करता था चाहे वह रसायनशास्त्र हो, चाहे जीव प्रकृति—जिसके सम्बन्ध में यान्त्रिक सिद्धान्त लागू हैं सही लेकिन जिनका नियन्त्रण और उच्चकोटि के नियमों द्वारा होता है। उसकी दूसरी संकीर्णता यह है कि वह विश्वसंसार को सक्रिय रूप में—भूत के ऐतिहासिक विकास के रूप में नहीं देखता। प्रकृति की अविराम गति का ज्ञान तो लोगों को था लेकिन उस समय के विचार के अनुसार यह गति अनन्त काल से एक चक्र के आकार में है और उन्हीं परिणामों का बारंबार आविर्भाव होता रहता है। यान्त्रिकवाद एक यन्त्र-चालक का अनुमान करता है और इस प्रकार ईश्वर और अतिप्राकृतिकवाद की

पुनःसृष्टि करता है। वास्तविक परिवर्तन की व्याख्या यह नहीं कर सकता। वास्तविक परिवर्तन का कारण है वस्तु की स्वयंगति।

द्वन्द्वमान के संक्षिप्त सूत्र--लेनिन--हेगेल के तर्कशास्त्र के ऊपर लेनिन ने १६ सूत्रों का विस्तार किया है जिनके अध्ययन से द्वन्द्वमान को समझने में बहुत सहायता मिलती है। लेनिन के शब्दों में द्वन्द्वमान का संक्षिप्त विवरण है विरोधियों का एकत्व। एक प्रकार से ये सोलहों सूत्र इसी के विशद विस्तार हैं।

मनन-क्रिया का आरम्भ होता है, विश्व-प्रक्रिया से उसके कुछ विशिष्ट गुणों को अलग करके उनके अलग रूप को ही ध्यान में लाकर। वस्तु (कर्म) को लेकर ही मनन क्रिया का आरम्भ है। इसलिए द्वन्द्वात्मक मनन-क्रिया के लिए पहले आवश्यक है वस्तुओं को ज्यों की त्यों उनके अलग रूप में देखना। यही लेनिन का पहला सूत्र है--वस्तु-निरीक्षण।

लेकिन वस्तु-तत्त्व के तोड़ने के पहले क़दम को पूरा करना पड़ता है दूसरे क़दम से इस द्वन्द्वमान का पुनर्निर्माण करके। "यदि विश्वसंसार एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है जिसके अंग परस्पर सम्बन्धित हैं तो हम इनकी पहचान यों करते हैं कि मस्तिष्क में इन आंशिक क्रियाओं को, यथा, समाज, उत्पादन के साधन, परिवर्तनशील वस्तु, शब्द को अलग कर लेते हैं। इनका हम नाम देते हैं पृथकित (Isolates)। यह पृथकित, पारिपार्श्विक अवस्था (बहिरावेष्टन) यथा, स्थान, काल, भूत से अलग कर लिया गया है। इसलिए स्वयं पृथकित एक कल्पना-मात्र है, क्योंकि द्वन्द्वात्मक दृष्टि से पारिपार्श्विक अवस्था से मुक्त कोई वस्तु रह नहीं सकती। लेकिन यह कल्पना भी वास्तविक ही है, इसलिए कि वस्तुराज्य में इसका अस्तित्व है। द्वन्द्वमान के अध्ययन का पहला क़दम है इन पृथकितों का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करना और फिर इनको अपनी पारिपार्श्विक अवस्था से संयुक्तकर द्वन्द्वमान का पुनर्निर्माण करना।" (लेवी)

इसी प्रकार हम अतिभौतिकवादी अलाहिदापने और एकतरफापने

के ऊपर उठ सकते हैं और दुनिया को एक अन्तःसम्बन्धित गति के रूप में देख सकते हैं। यही लेनिन का दूसरा सूत्र है—हमें प्रत्येक वस्तु के दूसरे वस्तुओं से सम्बन्धों की विचित्रता और परिपूर्णता का विचार करना चाहिए।

प्रत्येक वस्तु विराट् विश्व-प्रक्रिया का एक अंग है। इसकी प्रकृति को इसकी रूपान्तरित अवस्था मे अलग करके नहीं समझा जा सकता है। यही लेनिन का तीसरा सूत्र है:—हमें वस्तु या दृश्यगत घटनाओं के विकास, इसकी अपनी गति, इसके अपने जीवन आदि का विचार करना चाहिए।

लेकिन यह विकास ऐसा नहीं है जो मनमानी ढंग से, बिना किसी कारण के, रहस्यमय रूप में होता हो। विकास सदा बाहरी सम्बन्ध तथा आन्तरिक संघर्षो का ही परिणाम है। यह उसी हद तक समझाया जा सकता है तथा बुद्धि-द्वारा ग्रहण किया जा सकता है जहाँ तक हमने इसके आन्तरिक सम्बन्धों की जाँच की है। यही लेनिन का चौथा सूत्र है। हमें वस्तु की अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों और दिशाओं की खोज करनी चाहिए।

पाँचवा सूत्र:—हमें वस्तु को विरोधियों के एकत्व तथा योगफल के रूप में देखना चाहिए।

छठा सूत्र:—इन विरोधियों के पट-विस्तार तथा संघर्ष को हमें देखना चाहिए।

सातवाँ सूत्र:—वस्तु के विश्लेषण तथा समन्वय का एकीकरण।

आठवाँ सूत्र:—प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध न केवल बहुविध हैं बल्कि सार्वभौमिक हैं। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु से सम्बन्धित है।

नवाँ सूत्र:—न केवल विपरीतों का एकत्व बल्कि प्रत्येक गुण का उसके विपरीत में रूपान्तरित होना।

दसवाँ सूत्र:—नये पार्श्वों और सम्बन्धों के दृश्यगत होने की असीम क्रिया।

ग्यारहवाँ सूत्र:—मनुष्य-द्वारा वस्तु, दृश्य, क्रिया इत्यादि के ज्ञान को

गहराई में ले जाने की तथा वाह्यावरण से तत्त्व पर और कम गहराई के तत्त्व से अधिक गहराई के तत्त्व पर पहुँचने की असीम क्रिया।

बारहवाँ सूत्र:—सह-अस्तित्व से कार्य-कारण के सम्बन्ध को पहुँचना। एक प्रकार के सम्बन्ध और पारस्परिक निर्भरता से अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक सम्बन्ध तथा पारस्परिक निर्भरता की ओर जाना।

तेरहवाँ सूत्र:—निम्न स्तर से ऊँचे स्तर पर विकास की क्रिया में कुछ गुणों की पुनरावृत्ति।

चौदहवाँ सूत्र:—प्रतीयमान रूप से पुराने रूप पर लौट जाना (प्रतिषेध का प्रतिषेध)।

पन्द्रहवाँ सूत्र:—रूप और सार, आकार और आकार के अन्दर अवस्थित तत्त्व का संघर्ष तथा इसका विपरीत।

सोलहवाँ सूत्र:—परिमाण का गुण में परिवर्तन तथा इसका विपरीत।

व्याख्या और उदाहरण—जीवन का उदाहरण प्रकृति के द्वन्द्वात्मक रूप पर स्पष्ट प्रकाश डालता है। अवयव के तथा कोष के जीवन में जीवन और मृत्यु, आविर्भाव और तिरोभाव, अंतर्ग्रहण तथा बहिर्मोचन (भूत और शक्ति का) ये पास पास ही मिलते हैं तथा परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं।

पूँजीवाद में अन्तर्विरोध—(१) प्रत्येक भिन्न फ़ैक्टरी में उत्पादन का सुचारु संगठन और सामाजिक उत्पादन क्षेत्र में अराजकता।

(२) एक ओर मशीन की उन्नति और उत्पादन का विस्तार प्रत्येक पूँजीवादी के लिए वाध्यतामूलक नियम है; दूसरी ओर उद्योग की रिज़र्व सेना में वृद्धि और सामयिक संकट का बार बार होना। यहाँ उत्पादन के सम्बन्ध पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं।

(३) संपूण पूँजीवादी प्रथा में एक ओर पूँजी ही सम्पत्ति है और दूसरी ओर उद्योग में पूँजी का प्रयोग किया जाता है यानी एक ओर फ़िनान्स (बंक) पूँजी है और दूसरी ओर औद्योगिक पूँजी है। इस प्रभेद का प्रदर्शन है सूदज वी जिसकी जीविका है पूंजी पर सूद और दूसरे

जो अपनी जीविका पूँजी के व्यावहारिक प्रयोग मे अर्जन करते हैं। (लेनिन)

हर प्रथा या क्रिया के आन्तरिक विरोधों के रूप और गुण भिन्न होते हैं।

सर्वहारा के अधिनायकत्व मे राष्ट्र का लोप भी विरोध का उदाहरण है। सर्वहारा का अधिनायकत्व राष्ट्र का तीव्रतम रूप है, लेकिन यही वर्ग-सघर्ष के अन्त का कारण बन जाता है और इस प्रकार राष्ट्र का लोप होता है।

आपेक्षिक और पूर्ण सत्य भी विरोध का उदाहरण है। इसका विस्तार आगे चलकर किया जायगा।

विशिष्ट और व्यापक के सम्बन्ध में अन्तःप्रवेश भी विरोध का एक उदाहरण है। व्यापक (साधारण) के सम्बन्ध से विच्छिन्न होकर विशिष्ट का कोई अस्तित्व नहीं है; और विशिष्टों से ही व्यापक का अस्तित्व है। प्रत्येक व्यापक रूप केवल क़रीब क़रीब ही सब विशिष्ट वस्तुओं को अपनी व्यापकता में ला सकता है; और प्रत्येक विशिष्ट वस्तु कुछ न कुछ व्यापक रूप ग्रहण करती है।

अन्तर्विरोध पर बुखारिन—"एक दूसरे के विरुद्ध भिन्न कार्यकारी शक्तियाँ पृथ्वी में वर्त्तमान हैं। व्यतिक्रम के रूप में इन शक्तियों का समीकरण होता है। तब विराम की स्थिति होती है, यानी उनके वास्तविक विरोध पर एक आवरण पड़ जाता है। लेकिन किसी एक शक्ति में तनिकमात्र परिवर्तन करने ही से अन्तर्विरोधों का पुनराभास होता है और उस समीकरण का अन्त होता है और यदि एक नये समीकरण की सृष्टि होती है तो यह एक नये, आधार पर, यानी शक्तियों के एक नये संयोग से ही होती है।"

बुखारिन के अनुसार अन्तर्विरोध बाहरी विरोधों का परिणाम है। इसलिए उनके अनुसार मूल विरोध बाहरी है। इस प्रकार 'अन्तर्विरोध के कारण स्वयंगति' के तथ्य का यह निषेध करता है। इसी तरह, बुखारिन

के अनुसार समाज के अन्तर्गत श्रेणी संघर्ष का निराकरण होता है समाज और प्रकृति में विरोध के द्वारा।

मार्क्सीय द्वन्द्वन्याय इस विरोध को भुला नहीं देता, लेकिन सामाजिक विकास में इस विरोध को मुख्य स्थान नही देता। इतिहास के अध्ययन से हम यह पाते हैं कि यद्यपि भिन्न देशों में भूगोल, जलवायु, उद्भिज, जंगम और प्राकृतिक सम्पद में परिवर्तन नहीं के बराबर हुआ तथापि वहाँ के सामाजिक सम्बन्धों में महान् परिवर्तन हो गये, जैसे सामन्त प्रथा के स्थान पर पूँजीवाद की स्थापना।

पूँजीवाद में समाज और प्रकृति का विरोध तो विद्यमान रहता है, लेकिन इस विरोध के विशिष्ट रूप का निराकरण होता है, भौगोलिक परिवेष्टन के गुणों द्वारा नहीं, बल्कि पूँजीवाद के विकास के मूल नियमों के द्वारा। समाज अपने आन्तरिक नियमों से और अपनी उत्पादक शक्तियों के विकास से हर विशेष सामाजिक संगठनों के विशेष साधनों द्वारा अपने भौगोलिक परिवेष्टन में परिवर्तन करता है। जंगलों की कमी हो गई है—पेड़ों के लगाने और गिराने पर नियन्त्रण रक्खा जाता है। कोयला काफ़ी नहीं है—पेट्रोलियम उसके स्थान पर इस्तेमाल किया जाता है। चमड़ा, रेशम, ऊन की कमी है,—कृत्रिम उपायों से ये बनाये जाते हैं। हवा में नमी की कमी है—आबपाशी से काम लिया जाता है। पशु और वनस्पति-जगत् में नवरूप प्राप्त होते हैं क्योंकि इनके नये क़िस्म की सृष्टि होती रहती है।

यदि इतना होते हुए भी पूँजीवादी समाज में प्राकृतिक परिवर्तन इतना सीमित है इसका कारण प्रकृति और समाज के विरोध में नही मिलेगा, बल्कि पूँजीवादी उत्पादक सम्बन्धों में मिलेगा जो उत्पादक शक्तियों का पूरा पूरा विकास नहीं होने देता। समाजवाद में ही यह सम्भव-पर है।

गुण-परिवर्तन—किसी वस्तु की मूल गति ही उसके गुण का निर्देश करती है। भूत अपनी गति मे ही असंख्य गुणों की सृष्टि करती है।

मनुष्य, सामान्य जीवनकोष, जड़ पदार्थ, सभी एक ही भौतिक विकास की चढ़ती सीढी के क़दम हैं और ये क़दम भिन्न गुण-सम्पन्न हैं।

प्रत्येक गति में यान्त्रिक गति सम्मिलित है और इसके कारण भूत-कणों की सजावट में भिन्नता आ जाती है। इन यान्त्रिक गतियों को समझना विज्ञान का पहला काम है, लेकिन यह केवल पहला ही क़दम है। 'यान्त्रिक गति' से 'व्यापक गति' का अन्त नही हो जाता। गति केवल स्थान-परिवर्तन-मात्र नही है—यन्त्र-राज्य मे ऊपर यह गुण का भी परिवर्तन है।

यान्त्रिक गति हर उच्च प्रकार की गति का एक आवश्यक अंग है, यद्यपि यह गति के और गुणों की भी सृष्टि करती है। रासायनिक क्रिया के साथ उत्ताप और वैद्युतिक परिवर्तन का निरन्तर संयोग है। सावयव जीवन बिना यान्त्रिक, कणिक, रासायनिक, उत्ताप और बिजली सम्बन्धी परिवर्तनों के असम्भव है। लेकिन प्रत्येक क्षेत्र में इन सम-वर्तमान (Collateral) रूपों मे मूल रूप के तत्त्व का भण्डार चुक नहीं जाता।

इसमें कोई संदेह नही कि विशिष्ट गुण-सम्पन्न भूत की नई अवस्था का आविष्कार गति के एक नये प्रकार का आविष्कार होगा।

परिमाण की वृद्धि से वस्तु-विशेष का गुण अपने विपरीत में परिवर्तित हो जाता है। जैसेः—

"निर्विरोध प्रतियोगिता पूँजीवाद का और साधारणतः पण्य उत्पादन का मौलिक गुण है। एकाधिकार इसका ठीक उल्ट है। लेकिन हम अपनी आँख के सामने प्रतियोगिता को एकाधिकार में रूपान्तरित होते देख रहे हैं जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन की सृष्टि होकर छोटी फ़ैक्टरियाँ दबती जा रही हैं, और उत्पादन बड़े से और अधिक बड़े पैमाने पर होकर अंत में पूँजी और उत्पादन का इस प्रकार एकत्रीकरण हो जाता है कि इसका परिणाम एकाधिकार हो जाता है।" (साम्राज्यवाद—लेनिन।)

गुण से परिमाण के परिवर्तन का साधारण उदाहरण है अच्छा बीज,

जिसके बोने से उपज का परिमाण बहुत बढ़ जाता है। इसी तरह रूस की सामूहिक खेती इसका दूसरा उदाहरण है जिसके कारण भी उपज का परिमाण बहुत बढ़ जाता है।

गुण-परिवर्तन पर लेवी—लेवी ने गुण-परिवर्तन के सम्बन्ध में वस्तुओं को दो श्रेणियों में विभक्त किया है:--कणिक (Atomic) तथा सामूहिक (Statistical) और गुण परिवर्तन को चार श्रेणियों में विभक्त किया है:—

(१) कणिक से कणिक,
(२) सामूहिक से सामूहिक,
(३) कणिक से सामूहिक और
(४) सामूहिक से कणिक।

उदाहरण—(१) (क) मनुष्य—बाल्यावस्था से वृद्धावस्था।
(ख) खनिज पदार्थ—प्राकृतिक अवस्था से व्यवहारिक वस्तु के रूप में।
(ग) ज़मीन का टुकड़ा जिसका व्यावहारिक मूल्य सामाजिक विकास के कारण बढ़ गया हो।
(२) आस्ट्रेलिया में भेजा गया ख़रगोश का पहला जोड़ा जहाँ अब उनका ढेर एक उत्पात् बन गया है।
(३) एक धूप का दिन—बहुत से धूप के दिन—सूखा।
(४) इसमें सभी वे उदाहरण है जिनमें समूह टूट कर अलग अलग हो जाती हैं, जैसे एक परिवार का टूटना।

परिवर्तन की कल्पना के लिए ये उदाहरण सहायक हैं, लेकिन यह ध्यान रहे कि ये सभी उदाहरण द्वन्द्वात्मक परिवर्तन के उदाहरण नहीं हैं।

इसी प्रकार लेवी ने उद्भिज राज्य के दो उदाहरण दिये हैं।

(१) जंगल में सोतों के पास एक प्रकार की काई जमती है (Sphagnum moss) जो धीरे धीरे जंगल को उजाड़ देती है।

(२) एक झील है। उसकी तह पर उद्भिज सड़ते रहते हैं। तह ऊपर को उठती है और उसकी सतह पर लता तैरने लगती है। झील दलदल बन जाती है। लताओं की जड़ें जम कर धीरे-धीरे घास का मैदान बन जाती है। हवा के झोंको से बीज उड़ कर लगने से पेड़-पौधे जम जाते हैं, फिर एक जगल बन जाता है।

ज्ञान का मूल

ज्ञान क्या है? ज्ञान की परिभाषा है—जो परिभाषा से अधिक वर्णन है—ज्ञान सम्बन्धों की चेतना है—वस्तु-विषयक तथा आत्मविषयक; जीवधारी मनुष्य के रूप हम और बाहरी दुनिया के सम्बन्धों की चेतना; बाहरी दुनिया में व्यापक और विशिष्ट तफसीलों के बीच का सम्बन्ध; और द्रष्टीभूत वस्तु तथा उसकी कल्पना के बीच का सम्बन्ध जिसमें और जिसके द्वारा हम अस्तित्व का अनुभव करते हैं—अपना अस्तित्व और बाहरी दुनिया का भी अस्तित्व। हम द्रष्टीभूत वस्तुओं और उनकी कल्पनाओं में ही अपने और बाहरी दुनिया के बीच समता और प्रभेद दोनों का एक साथ अनुभव करते हैं। प्राकृतिक वास्तविकता की बाहरी दुनिया और मनन-क्रिया की भीतरी दुनिया में विविध प्रकार और परिमाण की समता और प्रभेद को मानस-चित्र में चित्रित कर सकना और इन सब को सम-अस्तित्व (Co-existence) और अनुवर्तन (Succession), क्रिया, प्रतिक्रिया, परस्पर क्रिया और कार्यकारण निर्भरता के उचित सम्बन्धों में सजाने और व्यवस्थित करने का नाम ही जानना है।

सम्बन्ध की चेतना ही ज्ञान है—विशेषकर वस्तु-जगत् के अस्तित्वों के बीच का, तथा आत्मानुभूत (दृष्टिगत वस्तु, कल्पनायें आदि) अस्तित्वों

के बीच का सम्बन्ध तथा इन दोनों जगतों के बीच के सम्बन्ध की चेतना ही ज्ञान है।

एक और दृष्टिकोण से —व्यावहारिक अर्थ में—विचार वस्तु जगत् को ठीक ठीक प्रतिफलित और प्रतिबिम्बित करता है, इसकी निश्चयता ही ज्ञान है।

भौतिकवाद ने प्रकृति को क्रियशील रूप में माना और विचार को अक्रिय रूप में जिसका केवलमात्र काम था इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं को ग्रहण करना तथा उस पर मन्थन करना। यह कैंट और कैंट पश्चात् आदर्शवादी थे जिन्होंने मननशक्ति की रचनात्मक क्रिया पर ज़ोर दिया, लेकिन इतना अधिक जोर दिया कि उसको बेहिसाब बढ़ा-चढ़ा दिया।

अँगरेज़ी और फ़्रांसीसी भौतिकवाद ने इस मूल स्वीकृति से आरम्भ किया कि विचार की वस्तु (विचार क्रिया का कर्म) का अस्तित्व विचार-कर्ता के अस्तित्व से पहले है और विचारकर्ता इसकी अनुभूति प्राप्त करता है। लेकिन वह इससे आगे न बढ सके।

टमास् हॅब्स् ने इस मत को इन शब्दों में रक्खा है। "मनुष्य के विचार के सम्बन्ध में.....। अलग-अलग रूप में इनमें से प्रत्येक वस्तु, हमारे शरीर और मन के बाहर किसी वस्तु के किसी गुण का प्रतीक या प्रतिनिधि है, जो वस्तु कि मनुष्य की इन्द्रियों पर अपनी क्रिया की विचित्रता से विविध दृश्यों की सृष्टि करती है।" (लिव. प्रथ त)

यह प्रश्न भौतिकवादियों के सामने इस रूप में था कि इस ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियग्राह्य रूपों के मूल उद्गम स्थान से होकर एक विशेष शक्ति 'प्रज्ञा' द्वारा होती है; लेकिन यह विशेष शक्ति क्या है, यही एक झगड़े का विषय हो गया। आदर्शवादी इस मत का पोषण करते थे कि यह 'प्रज्ञा' धर्म-पण्डितों की आत्मा ही है जो एक अति प्राकृतिक शक्ति है, जो इन्द्रियानुभूत मायावी रूपों को परम और अनन्त सत्य में परिणत

करती है। भौतिकवादी इस मत के लिए झगड़ते रहे कि यह 'प्रज्ञा' कितनी ही रहस्यमय हो फिर भी यह प्राकृतिक ही है।

प्रसिद्ध लेखक आनातोल फ़्रांस ने परिस्थिति को इस तरह चित्रित किया है:—

"मठ की दीवार के नीचे जहाँ छोटे बच्चे अपना खेल खेल रहे थे हमारे साधू मित्र वहाँ एक और खेल खेल रहे थे जो उतना ही व्यर्थ था, लेकिन मैं वहाँ जा मिला क्योंकि समय बिताना ही चाहिए।

"हमारा खेल शब्दों का खेल था जो हमारे कूढ़मग़ज़ लेकिन सूक्ष्म दिमाग़ के लिए सुखकर था, एक विचार-शैली को दूसरा विचार-शैली के विरुद्ध उभाड़नेवाला था। और उसने सारे ईसाई समाज में हलचल मचा दी। हम दो विरोधी दलों में बँट गये। एक दल का कहना था कि 'सेबों (फल) के पहले सेब जाति थी, केलों के पहले 'केला' जाति थी; भ्रष्ट-चरित्र और लालची साधुओं के पहले 'साधु' जाति, लालच तथा भ्रष्ट-चरित्रता थी, पीठ पर लात जमाने के लिए लात और पीठ से पहले पीठ पर जमनेवाला लात सदा से ईश्वर के अन्तस्थल में विद्यमान था।

दूसरे दल ने उत्तर दिया कि नहीं, सेबों से ही सेब जाति की धारणा होती है, केलों से ही केला जाति का अस्तित्व है, साधुओं से ही साधु जाति, लालच तथा भ्रष्ट चरित्रता की उत्पत्ति है और लात जमाने और खाने के बाद ही पीठ पर लात का कोई अर्थ होता है। खिलाड़ी गरम हो गये और घूँसा चलने लगा। मैं दूसरे दल का पृष्ठपोषक था क्योंकि उसका मत मेरे लिए बुद्धिग्राह्य था और सोआसों की बैठक ने इस मत को अग्राह्य बनाया (Revolt of the Angels)।

प्रज्ञावादी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक ज्ञान का चिह्न है, इसके प्रतिपाद्यों की व्यापकता और अवश्यम्भाविता। व्यापकता का अर्थ है कि सिद्धान्त का प्रयोग बिना व्यतिक्रम के हमारे सब अनुभवों पर हो सके और अवश्यम्भाविता का अर्थ है कि सब मनुष्यों की बुद्धि ऐसे सत्य को ग्रहण करने के लिए उनको बाध्य करे।

लेकिन प्रज्ञावादी को कार्यकारण सम्बन्धों का एक सूत्रबद्ध सिलसिला कहाँ से मिल जाता है, जो उनके अनुसार वस्तुओं के भ्रमपूर्ण चित्रों के मूल में है ।

इन विचारों के स्पष्ट और स्वयंसिद्ध तथा तर्कसंगत होने ही से ऐसा क्यों अनुमान किया जाय कि ये बाहरी दुनिया की सच्ची तस्वीरें हैं ?

लेनिन के शब्दों मे इस रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। "करोड़ों बार दुहराने से मनुष्य के अभ्यास और अनुभव चेतना में तर्कसंकेत का रूप धारण कर लेते हैं।" तथाकथित तर्कसंगत विचार के सार्वभौम रूपों का ऐतिहासिक आधार यही है।

कैंट इससे सहमत है कि हमारा ज्ञान अनुभव से आरम्भ होता है और इस अनुभव की प्रारम्भिक बात है बाहरी वस्तुओं का अस्तित्व। वह केवल इस बात से इन्कार करता है कि यही इसका अन्त होना है, क्योंकि हमें ऐसी चीज़ों का ज्ञान है जो अनुभव से परे है। वह इसको मान लेता है कि शेषोक्त प्रकार का ज्ञान पूर्वोक्त प्रकार के ज्ञान का अनुमान कर लेता है।

"क्योंकि यह कैसे सम्भव है कि पहचान (ज्ञान) की शक्ति का उद्बोधन हो सिवा उन वस्तुओं के संयोग से जिनका प्रभाव हमारी इन्द्रियों पर पड़ता है और जो स्वयं अपने प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती हैं और अंशतः हमारी बुद्धि को जाग्रत करती हैं ताकि वह इन प्रतिबिम्बों की तुलना कर सके, इनको जोड़ सके तथा अलग अलग कर सके और इस प्रकार हमारे इन्द्रिय-लब्ध चित्रों के कच्चे माल को वस्तुओं के ज्ञान के रूप में परिणत करता है और जिसको हम अनुभव का नाम देते हैं। इसलिए समय के खयाल से हमारा कोई ज्ञान अनुभव से पहले नहीं है लेकिन इसके साथ ही आरम्भ होता है।"

कैंट आगे चल कर कहता है कि ज्ञान का एक और अंग है। "यद्यपि हमारा ज्ञान अनुभव से आरम्भ होता है, इसका यह अर्थ नहीं कि अनुभव मे ही सब ज्ञान की उत्पत्ति है। क्योंकि इसके विपरीत यह बहुत सम्भव

है कि जो कुछ हमको इन्द्रियसंयोग से प्राप्त होता है और जो कुछ हमारी पहचान की शक्ति स्वयं अपना अंश मिलाती है, इन दोनों के मिश्रण से ही हमारा व्यावहारिक ज्ञान बनता है। लेकिन मुद्दत की आदत से ही हमारे अन्दर वह कौशल और एकाग्रता आती है जिससे हम इन दोनों को पृथक् करने में समर्थ होते है।"

कैंट के पहले के दार्शनिक दो मुख्य दलों मे बँटे हुए थे, एक भौतिकवादी जो इन्द्रियानुभव तथा इसके ऊपर सोच-विचार के दुहरे रास्ते द्वारा बाहरी दुनिया से सब ज्ञान की उत्पत्ति बताते थे और दूसरे आदर्शवादी जो कहते थे कि मानस में ऐसे विचार है जिनका कारण नहीं बताया जा सकता, ऐसे विचार जिनकी सार्वभौमिकता और अमूर्तरूप यह निर्देश करता है कि ये स्वयं प्राप्त है और सब अनुभव के मूल में है।

कैंट की ऐतिहासिक स्थिति यह है कि दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय के द्वारा उसने इस विरोध का अंत किया और उसका यह दावा था कि इस नये दृष्टिकोण में उसने इन दोनों का सम्मेलन एक ऊँचे स्तर पर कराया है। उसने यह मान लिया कि स्थान, काल, कारण इत्यादि अमूर्त कल्पनाओं को केवल अनुभव में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता; दूसरी ओर, यद्यपि ये स्वयंप्राप्त है, यह कल्पना नहीं की जा सकती कि ये बिलकुल ही अनुभव पर निर्भर नहीं है। उसका दावा था कि वास्तविकता यह है कि सब अनुभव के मूल में पूर्व परिस्थिति के रूप मे ये विद्यमान है और इस तरह अनुभव के रूपों का ये निर्णय करते है।

उसने यह दलील दी कि ज्ञान के दो उद्गम नहीं है—एक ओर बाहरी वस्तु और दूसरी ओर मानव बुद्धि। ज्ञान का एक ही उद्गम है—वह है कर्ता और कर्म (बुद्धियुक्त मनुष्य और वस्तु) का सम्मेलन। इस प्रकार जल अम्लजान और उद्जान का सम्मेलन है; लेकिन आप यह नहीं कह सकते कि जल के दो कारण हैं—एक अम्लजान और दूसरा उद्जान; इसका एक ही कारण है, दोनों का सम्मेलन।

"सारा संसार हमारे लिए दृश्यमान घटनाओं की एक परम्परा है।

क्या ये दृश्य मानस की उपज हैं जिसके सामने ये दर्शित होते हैं, या कि ये वस्तुओं के विशुद्ध प्रतिनिधि हैं? आदर्शवाद या वस्तुवाद? दोनों मे से कोई नहीं और दोनों। मानस और वस्तु सहयुक्त होकर दृश्य या प्रत्यक्षीकरण को उत्पन्न करते हैं। प्रत्यक्षीकरण दोनों के सम्मेलन का ही फल है।"

हेगेल के बहुतेरे सिद्धान्तों का मूल कैंट के दर्शन मे मिलता है। जब कैंट ने सब सम्भव ज्ञान के क्षेत्र को उन रूपों में सीमित कर दिया जिनमें मनुष्य बाहरी दुनिया को देखता है तो उसने हेगेल के इस वाक्य की नींव डाली कि "जो कुछ वास्तव है वह तर्कसंगत है और जो कुछ तर्कसंगत है वह वास्तव है।"

ठीक है कि कैंट ने यह अस्वीकार किया कि वस्तु स्वरूप का कोई ज्ञान प्राप्त हो सकता है, लेकिन हेगेल को दो दिशाओं में यह असम्बद्ध मालूम हुआ। पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार कि 'विचार रूप' के अन्दर की वास्तविकता को देनेवाला अनुभव ही है, वस्तु-स्वरूप नामक विचाररूप तभी सत्य हो सकता है जब इसकी उत्पत्ति किसी अनुभव से ही हो। दूसरी बात यह है कि दृश्यगत घटनाओं में तथा इनके और बुद्धि के बीच के सम्बन्ध मे ही अनुभव का निवास है। एंगेल्स ने इसी का भाषान्तर करके कहा—"यदि हम किसी वस्तु के सभी गुणों को जान लें तो वस्तु-स्वरूप के विषय में कुछ आविष्कार करना बाक़ी नहीं रह जाता सिवाय इसके कि वह वस्तु हमारे बाहर है और उसका अस्तित्व हमारे ऊपर निर्भर नहीं है।"

इन्द्रियानुभूतिवादियों (लॅक इत्यादि) के खण्डन की क्रिया में कैंट के सिद्धान्तों ने उसको यह कहने के लिए बाध्य किया कि हम पृथक् रूप से केवल गुणों का प्रत्यक्षीकरण नहीं करते। सम्पूर्ण प्रत्यक्षकारी संज्ञा क्रियाशील प्रत्यक्षीकरण में सम्पूर्ण बाहरी वास्तविकता के द्वारा संशोधित और परिवर्तित होती है। हेगेल ने इन दोनों सम्पूर्णों को एक

विकासमान सम्पूर्ण के धनात्मक और ऋणात्मक रूप में माना और इस प्रकार पूर्ण आदर्शवाद को पहुँचे।

कैंट ने कर्ता और कर्म (वस्तु) के विरोधात्मक एकत्व को अपनी दर्शन-व्यवस्था का केन्द्र बनाया। लेकिन असंगति उसकी इस कल्पना में यह थी कि एक ही ओर यानी कर्ता की ओर ही यह एकत्व क्रियाशील तथा फलोत्पादक है। हेगेल ने इस असंगति को दूर किया और इस बुनियाद पर अपनी सारी प्रथा का निर्माण किया कि सत्य का अवस्थान न केवल शुद्ध कर्ता में और न केवल शुद्ध वस्तु में है बल्कि इनके बीच के क्रियाशील सम्बन्ध में है, जिस सम्बन्ध के द्वारा कर्ता और वस्तु दोनों में क्रम-वर्द्धन-शील रूपान्तरण होता रहता है। आदर्शवाद के स्तर पर यह कल्पना हमको ले जाती है सीधे रहस्यवाद और इसके रास्ते से युक्ति-पूर्ण विचारों के ध्वंस की ओर। अपने उल्टे रूप में, भौतिकवाद के स्तर पर यह हमको ले जाती है मार्क्सीय विश्व कल्पना की ओर।

आदर्शवाद ने क्रियाशील पक्ष को विकसित किया, लेकिन केवल अमूर्त रूप में—द्वन्द्वमान, तर्क और विचार के व्यापक नियमों के विकास में तथा मनुष्य की मस्तिष्क-क्रिया की सीमाओं को रेखांकित करने में। वस्तुओं के द्वारा रक्त मांस-सम्पन्न मनुष्य-व्यवहार के क्रियाशील पक्ष का विकास भौतिकवादियों ने किया नहीं और आदर्शवादी अपने आदर्शवाद के कारण कर न सके।

प्रारम्भ में दिये गये ज्ञान की परिभाषा का द्वन्द्वात्मक रूप अब समझा जा सकता है। मनुष्य के बाहर स्थित प्रकृति ही ज्ञान का उद्गम है। ज्ञान प्रक्रिया मनुष्य और वस्तु के बीच एक क्रिया प्रतिक्रिया है जो मनुष्य और वस्तु दोनों को रूपान्तरित कर देती है। मनुष्य भिन्न बन जाता है, ज्ञान-प्राप्ति के कारण, और वस्तु भिन्न बन जाती है, ज्ञात होने के कारण। ज्ञात वस्तु अपने पहले रूप से विभिन्न बन जाती है और ज्ञानी मनुष्य भी अपने पहले रूप से भिन्न है। ज्ञान का मूल है मनुष्य की व्यावहारिक क्रिया—वस्तुओं के द्वारा, अनुभव के द्वारा।

ज्ञान-प्राप्ति की पहली सीढ़ी है इन्द्रियानुभूति। इन्द्रियानुभूति कोई ऐसी चीज़ नही है जो मनुष्य अवयव के साथ सदा एकसाँ बनी रहती हो। यह इन्द्रियानुभूति एक विशेष उपज है और यह पैदा होती है पशुओं की इन्द्रियानुभूति से भिन्न रूप में, ऐतिहासिक, सामाजिक प्रयोग की बुनियाद पर। सामाजिक ज्ञान का विकास इन्द्रियानुभूत तथा युक्ति-युक्त ज्ञान दोनों को समृद्ध करता है। किसी भी असभ्य मनुष्य के विचार और इन्द्रियानुभूति का स्तर इतना निम्न होता है कि किसी सभ्य मनुष्य से उसकी तुलना नही हो सकती। उसके निम्नस्तर और अत्यन्त सीमित पार्थिव आचार-व्यवहार पर ही उसके विचार और इन्द्रियानुभूति दोनो ही निर्भर हैं।

ज्ञान की दूसरी सीढी है तर्कबुद्धि। यह बुद्धि भी प्रयोग और व्यवहार के द्वारा आती है।

व्यवहार और तथ्य

भूत पहले या मानस्? यह प्रश्न एक दूसरे रूप में भी जीवन के सामने उठ खड़ा होता है। प्रयोग पहले या सिद्धान्त? व्यवहार पहले या तथ्य? इसका उत्तर हमको जीवन-पथ मे एक विशिष्ट दिशा की ओर ले जाता है। इस विषय में मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी अपनी विशेषता रखता है। कुछ लोग कहते हैं—प्रयोग और सिद्धान्त में कोई समन्वय नहीं हो सकता। प्रयोग इस गंदी, स्थूल, असत्य, मायावी दुनिया की चीज़ है; सिद्धान्त चिर सत्य, शिव और सुन्दर है, दोनों का क्या सम्बन्ध है? सिद्धान्त-दर्शन—ज्ञान ही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त कुछ है ही नही, इस तरह के विचार रखनेवाले लोग, मकड़ी की भाँति अपने भीतर से सिद्धान्त को निकालते हैं। दूसरे लोग हैं, जो प्रयोग से एकदम इन्कार तो नहीं करते, किन्तु वह सिद्धान्त को ही प्रधान मानते हैं। उनकी दृष्टि में सिद्धान्त प्रयोग की सन्तान नही है, वह एक स्वयंभू तत्व है। ऐसे मतवालों के लिए प्रयोग का आश्रित होना निम्नकोटि के लोगों को ही शोभा देता है; सिद्ध महर्षि इसके ऊपर है।

यह गौर करने की बात है कि प्राचीन भारत का प्रगतिशील युग प्रयोग निर्भर ही था जैसा कि अल्बेरूनी द्वारा उद्धृत आर्य भट्ट (४७६ ई०) के निम्न सूत्र से स्पष्ट हो जाता है:—

"सूर्य की किरणे जो कुछ प्रकाशित करती है वही हमारे लिए पर्याप्त है। उनसे परे जो कुछ है, और वह अनन्त दूर तक फैला हो सकता है, उसका हम प्रयोग नही कर सकते। जहाँ सूर्य की किरणे नही पहुँचती, वहाँ इन्द्रियो की गति नही, और जहाँ इन्द्रियों की गति नही उसे हम जान नही सकते।" (अल्-हिन्द)

पूर्वोक्त दृष्टिकोण श्रेणी-विभाजित समाज का और उस समाज मे शारीरिक और मानसिक श्रम के विभाजन का परिणाम है। पूँजीवाद मे शारीरिक और मानसिक श्रम का विच्छेद पूरे तौर पर हो जाता है। श्रम के इस विभाजन के कारण प्रयोग से बिलकुल स्वतन्त्र होकर सिद्धान्त का निर्माण होता है और ऐसे विद्वत्तापूर्ण तथ्यों का आविष्कार होता है जो व्यवहार-कुशल लोगों की अवज्ञा के पात्र बन जाते है। इस प्रकार उत्पन्न प्रयोग और सिद्धान्त का विच्छेद पूँजीवादी विचार धारा की रक्षणशील संकीर्णता के कारण अधिक गहरा बन जाता है और जो आज के दिन के ढोंगपूर्ण विचारों के लिए ज़िम्मेदार है।

विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन से भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते है कि प्रयोग ही सिद्धान्त का जनक है। देश-विजय और व्यापार ने भूगोल को जन्म दिया। पैदावार तथा उद्योग और लड़ाई के औजारों ने खनिज-विज्ञान की सृष्टि की। कृषि में बीज बोने के लिए ऋतुओं के ज्ञान की आवश्यकता हुई। इस आवश्यकता के कारण नक्षत्रशास्त्र की रचना हुई। इसी नक्षत्रशास्त्र की शाखा उप-शाखा के रूप में आलोक-विज्ञान तथा पदार्थ-विज्ञान की सृष्टि हुई (दूरबीन आदि का आविष्कार)। व्यावहारिक उपयोगिता ही यन्त्रगतिशास्त्र का जनक है जैसे नील नदी की सतह को उठाकर खेत सींचने की आवश्यकता

इत्यादि। इतर धातुओं को सोने में परिवर्तित करने की चेष्टा से रसायनशास्त्र की उत्पत्ति हुई। रसायनशास्त्र के समवाचक अँगरेज़ी शब्द केमिस्ट्री की व्युत्पत्ति है मिश्र-भाषा के शब्द 'कीमिया' से। गणित-शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो सबसे अधिक बुद्धि-प्रसूत और प्रयोग से असम्बन्धित जान पड़ता है। लेकिन इसके इतिहास के अध्ययन से भी यही विचार-धारा पुष्ट होती है। खेतों की नाप-जोख से ज्यामिति (रेखागणित) का सम्बन्ध है और जिस समय रोम अधिपति अँगस्टस् ने सिकन्दरिया के हीरो को रोमन राज्य का नक़शा खींचने के लिए नियुक्त किया उससे भी ज्यामिति-शास्त्र ने काफी पोषण-प्राप्त किया। Science at the Ross-Roods (विज्ञान के चौमुहाने पर) नामक लेख में हेसेन ने न्यूटन पर जो प्रकाश डाला है उससे इस भ्रम का निराकरण होता है कि न्यूटन किसी द्युलोक का स्वप्न द्रष्टा है जिसका पार्थिव व्यवहार से कोई संस्पर्श नही है। उसने यह दिखलाया है कि न्युटन ने जिन समस्याओं का समाधान किया है, उनकी उत्पत्ति उस समय के मानव-समाज की व्यावहारिक आवश्यकताओं से ही हुई है।

अब गणित के उस विभाग पर विचार कीजिए जिसको गणितज्ञ प्रतिदिन के जीवन से असम्बन्धित समझते हैं---सम्भावित का तथ्य (Theory of Probability)।

चूँकि गणितज्ञ अपने अध्ययन-क्षेत्र के युक्ति विचार के सिलसिले में ही अधिक दिलचस्पी रखते हैं, इसलिए वे उस सामाजिक पृष्ठभूमि को भूल जाते हैं जिससे गणितशास्त्र की उत्पत्ति हुई है। रूपहीन वैज्ञानिक ज्ञान की कल्पना कैसी होती है इसका उदाहरण हमको सम्भावित के तथ्य से मिलता है। अधिकतर लोग यह समझते हैं कि यह (Theory of Probability) कोई तर्क की शाखा है या यह एक ऐसा ज्ञान है जिससे किसी निश्चित परिणाम की हम आशा कर सकते हैं। परिगणन विद्या (Statistics) के क्षेत्र में इस तथ्य का प्रयोग ऐसे होता है मानो यह कोई जादू विद्या हो। इस क्षेत्र के बाहर ताश या फड़ इत्यादि

के जुआ के खेलों से ही इसका सम्बन्ध है। आकस्मिक सम्बन्ध के अलावा इन विभिन्न क्षेत्रों का क्य और भी कोई सम्बन्ध है? अब ज़रा इस पर ग़ौर कीजिए कि सम्भावित के तथ्य की उत्पत्ति कैसे हुई।

यह अब निश्चय हो गया है कि यूनानियों के समाज में क्षतिपूरक बीमा की प्रथा सुप्रचलित थी। ईसा से पूर्व पाँचवीं सदी में एथेन्स में बैंकों की स्थापना हो गई थी और भिन्न भिन्न कारोबारों पर सूद बँधे हुए थे। इतिहास में बीमा का नाम पहले पहल यूनानी ऐन्टीमीनीज़ के साथ संयुक्त है जिसने ३८८ ई० पू० में दासों के भाग जाने के क्षतिपूरण के लिए, उनके मूल्य का ८ प्रतिशत सालाना देने पर बीमा का रिवाज जारी किया। यूनान के व्यापारिक युग में सामुद्रिक बीमा का प्रचलन हुआ। इसके अनुसार जहाज पर माल लद जाने पर बैंक का मालिक व्यापारी को एक बँधी रक़म दे देता था। यदि जहाज़ डूब गया तो व्यापारी यह रक़म रख लेता था, नहीं तो मय सूद यह रक़म उसको बैंक के मालिक को दे देनी पड़ती थी। रोमन युग में व्यापारी सम्प्रदाय में एक प्रकार का बीमा प्रचलित था जिसके अनुसार उसके किसी सदस्य की मृत्यु पर उसके जीवित रिश्तेदारों को एक निश्चित रक़म दी जाती थी। लैटिन शब्द Average (औसत) का मूल है (Averagium) व्यक्तिगत सौदागर के क्रय-विक्रय के माल का वह अंश जो कि आवश्यकता पड़ने पर तूफ़ान के समय जहाज़ पर से समुद्र में गिरा दिया जाता था।

कोई लिखित प्रमाण नहीं है कि यह दर किस प्रकार निकाली जाती थी, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामाजिक पृष्ठ-भूमि से, बाज़ार की बातचीत से और साधारण ज्ञान से दासों के भागने की प्रतिनिधि-संख्या ८ प्रतिशत रक्खी गई होगी। सामाजिक नियमानुवर्तिता के अंक को यह प्रकाशित करता था और सामाजिक व्यवहार में इसका प्रयोग होता था। सम्भावित का एक वास्तविक अर्थ था और उन अवस्थाओं में भविष्यवाणी का एक उपयुक्त रूप था। इस भविष्यवाणी ने बीमा की दर का रूप ग्रहण किया।

इसके बाद वर्तमान काल तक के बीमा के इतिहास में हमको जाने की कोई आवश्यकता नहीं। आज यह सम्भावित का तथ्य इतने उत्कर्ष पर पहुँच चुका है कि यह जान ही नहीं पड़ता कि इसके पीछे कितने सदियों का अनुभव और निरीक्षण है।

अनुभव सामाजिक प्रयोगों का परिणाम तथा जोड़ है। लेनिन के शब्दों में "अनुभव में, हमारी बुद्धि पर अनिर्भर होकर, बुद्धि के विषयों का आविर्भाव होता है।"

मौसमी हवा और सामुद्रिक धाराएं जीवरूप के आविर्भाव के बहुत पहले से थीं---मानव ज्ञान और सामाजिक प्रयोग के आविर्भाव के कोटिशः वर्ष पहले ये वर्तमान थीं---लेकिन बहुत दिनों की समुद्रयात्रा के अनुभव मे ही इन हवाओं और धाराओं का ज्ञान सम्भव हो सका।

फिर लेनिन के ही शब्दों में "युक्तियुक्त बुद्धि, जिसको लोग समझते हैं कि वह इसी रूप मे अनंतकाल से चली आ रही है, का आधार है मानव-व्यवहार जो लाखों बार दुहराने पर संज्ञा के अन्दर तर्कज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है।"

लेकिन यद्यपि व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही सिद्धान्त का जन्म होता है लेकिन जन्म ग्रहण करने के बाद एक सीमा तक इसका स्वतन्त्र विकास होता है और जिस व्यावहारिक आधार पर यह उठ खड़ा होता है उसको प्रभावित, संशोधित और परिर्वाधित किये विना नहीं रहता।

इस प्रकार प्रयोग और सिद्धान्त 'विरोधियों का एकत्व' है जिनके परस्पर प्रभाव का कोई अंत नहीं है---जब तक मनुष्य जाति का अस्तित्व है। मानव-व्यवहार प्राथमिक है---गेटे के शब्दों में, 'आरम्भ में था कर्म'---लेकिन चूँकि व्यवहार पूर्णता लाता है, इसलिए प्रयोग का विकास सिद्धान्त को आगे बढ़ाता है और यह पुनः प्रयोग को प्रभावित करता है।

यहाँ पर बुखारिन के दो एक उद्धरण अनुपयुक्त न होंगे।

"उद्योग और सिद्धान्त दोनों ही सामाजिक मनुष्य की क्रिया हैं।

यदि हम सिद्धान्त को एक निश्चित प्रणाली के रूप में और प्रयोग को एक बनी बनाई वस्तु की तरह न देखें बल्कि क्रियाशील अवस्था में इनको देखें तो हमको श्रमक्रिया के दो रूप दिखलाई पड़ेंगे—श्रम का शारीरिक और मानसिक भागों में विभाजन सिद्धान्त प्रयोग का सञ्चित और सार रूप है।"

"प्रयोग और सिद्धांत की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया और उनकी एकता का विकास प्रयोग की प्राथमिकता की बुनियाद पर होता है। (१) इतिहास में—व्यावहारिकता के क्षेत्र में विज्ञान ने जन्म ग्रहण किया; विचारों की उपज वस्तुओं की उपज से ही अपना रूप ग्रहण करता है। (२) सामाजिकता के क्षेत्र में—सामाजिक रहन-महन सामाजिक चेतना का मूल है। सम्पूर्ण सामाजिक विकास वस्तु-उत्पादक श्रम-क्रिया-शक्ति-जनित है। (Theory and Practice from the standpoint of Dialectical Materialism—Bukharin)।

मार्क्स से ही हमको प्रयोग की प्राथमिकता की बुनियाद पर प्रयोग और सिद्धान्त के समन्वय की शिक्षा मिलती है। प्रयोग ही सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाण है।

द्वन्द्वन्याय और विकास

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जगत् परिवर्तनशील है। विकास परिवर्तन का ही एक प्रकार है। इस परिवर्तन को देखने के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। अतिभौतिकवादी और नैसर्गिकवादी का दृष्टिकोण एक है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी का दृष्टिकोण और है। लेनिन की व्याख्या से इस पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। "विकास विरोधियों का संघर्ष है। विकास की दो ऐतिहासिक धारणाएँ हैः— (१) विकास वृद्धि और ह्रास तथा दुहराने के रूप में, (२) विकास विरोधियों के समन्वित एकत्व तथा परस्पर सम्बन्धित रूप में।

पहली धारणा मृत, शुष्क, निःसार है; दूसरी जीवित है। दूसरी धारणा के द्वारा ही हर विद्यमान वस्तु की स्वयंगति समझी जा सकती

है और इसकी कल्पना की जा सकती है कि पुराने का ध्वंस होकर नय का आविर्भाव कैसे होता है। Lenin—Materialism and Empirio—critisim)

विकास की पहली धारणा से हम मौलिक परिवर्तन को नहीं समझ सकते। इस धारणा के अनुसार परिवर्तन को क्रम-विवर्तन के रूप में देखा जाता है। परिवर्तित वस्तु भी मुख्यतः मूल वस्तु ही है। मूल वस्तु म परिवर्तन की मात्रा अत्यल्प होती है और इन स्वल्प मात्राओं को जोड़ कर ही परिवर्तित वस्तु बन जाती है। लेकिन इस प्रकार मौलिक परिवर्तनों को समझा नही जा सकता। पीछे दिये गये उदाहरणों से यह सिद्ध है कि प्राकृतिक वस्तुओं की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की कुदान होती है। प्रकृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं। विकास ही प्रकृति का एकमात्र नियम नही है, क्रान्तिकारी परिवर्तन का भी उसमे स्थान है।

बहुतेरे लोग द्वन्द्वमान को विकासवाद के सिद्धान्त का पर्यायवाचक समझते हैं, लेकिन इसमे और उस निकृष्ट तथा-कथित विकासवाद के सिद्धान्त में बहुत अन्तर है जिसकी बुनियादी बात यह है कि आकस्मिक घटनाएँ प्रकृति में और इतिहास में नहीं घटतीं—दुनिया में जितने परिवर्तन होते हैं, सब धीरे-धीरे होते हैं। हेगेल ने पहले ही दिखलाया है कि इस अर्थ में विकासवाद सामञ्जस्यहीन तथा प्रलाप-मात्र है।

किसी वस्तु के आविर्भाव या तिरोभाव की कल्पना उसके क्रमशः आविर्भाव या तिरोभाव की कल्पना है। लेकिन सत् (अस्तित्व) का परिवर्तन न केवल एक गुण से दूसरे गुण का परिवर्तन है बल्कि परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन है। इस प्रकार, एक परिवर्तन घटित होता है, जो एक दृश्यगत घटना को दूसरे के स्थानापन्न करता है और धारा टूट जाती है। हर बार जब प्रवाह की धारा टूट जाती है तब विकास के रास्ते एक आकस्मिक परिवर्तन घटित होता है। हेगेल ने अनेकों दृष्टान्तों से यह प्रमाणित किया है कि प्रकृति और इतिहास में कितने ही

बार आकस्मिक परिवर्तन होते रहते हैं। साधारण-जन-विदित विकासवाद के सिद्धान्त के पोलेपन को उन्होंने अच्छी तरह दर्शाया है। हेगेल के शब्दों में 'क्रम विवर्तन की बुनियादी बात यह है कि जिसका आविर्भाव होता है वह पहले से ही विद्यमान रहता है, केवल सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य रहता है। इसी प्रकार जब हम किसी दृश्यगत घटना के तिरोभाव की बात करते हैं तो हम ऐसी कल्पना करते हैं कि जिसका तिरोभाव होना है वह तिरोहित हो चुका है और पूर्वगत घटना का जो स्थान लेना है वह पहले से ही विद्यमान है लेकिन दोनों ही दृष्टि-गोचर नहीं होते। परन्तु इस प्रकार से हम आविर्भाव या तिरोभाव के सम्पूर्ण ज्ञान को दबा देते हैं। किसी घटना के आविर्भाव या तिरोभाव की व्याख्या क्रमविवर्तन के द्वारा करना शब्द-सम्भार-मात्र है और इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि जो वस्तु की आविर्भाव या तिरोभाव की प्रक्रिया मे है, हम ऐसा समझते हैं कि वह आविर्भूत या तिरोहित हो चुका है।" (Fundamental Problems of Marxism--Plekhanov)।

हेगेल ने स्वयं इस विषय का जो विवरण दिया है वह महत्त्वपूर्ण है। "लोग परिवर्तन को उसके क्रम की न्यूनता से अपनी कल्पना के अन्तर्गत करना चाहते है; लेकिन क्रमिक परिवर्तन नाममात्र का परिवर्तन है और गुणात्मक परिवर्तन का विपरीत है। क्रमिकता, दो वास्तविकता के संयोग को, चाहे ये दो अवस्थायें हों चाहे दो स्वतन्त्र वस्तु, दबा देती है; परिवर्तन को समझने के लिए जिसकी आवश्यकता है उसका अपसरण हो जाता है।

संगीत सम्बन्धों में परवर्ती स्वर आरंभ के मूल स्वर से दूर हटते जाते हैं; फिर ऐसा मालूम होता है कि एकाएक वह मूल स्वर लौट आया। यह पिछले स्वर में जोड़ का परिणाम नहीं है, इसका सम्बन्ध दूर के स्वर से मालूम पड़ता है।

सब मृत्यु और जन्म धारावाहिक क्रमिकता न होकर, इसके विघ्न ही हैं और परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन की यह एक कुदान है।

साधारण कल्पना जब किसी उत्थान या निर्वाण का खयाल करती ह तब इसको वह क्रमिक उत्थान या निर्वाण के रूप में देखती है, परन्तु अस्तित्व में परिवर्तन न केवल एक परिमाण से दूसरे परिमाण का रूपान्तरण है बल्कि गुणात्मक से परिमाणात्मक तथा इसके विपरीत रूपान्तरण में है। यह स्व से भिन्न होने की एक क्रिया है जो क्रम की धारा को तोड़ देती है।"

प्रारंभिक बात यह है कि प्रकृति को समझने के लिए इसके इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता है। परिमाण की दृष्टि से यह तो निश्चय ही है कि किसी भी मुहूर्त में विश्व-संसार वही है जो वह पहले था और जो कि भविष्य के संसार के निर्माण की प्रक्रिया में है। इसी अनुमान के आधार पर विश्व-संसार बुद्धि-गम्य है और व्यवहार-योग्य है। गुणात्मक दृष्टि से यह समान रूप में स्वयंसिद्ध है कि किन्ही दो मुहर्तो में विश्व संसार एकसाँ नही है। यहाँ तक हालत, डारविन की क्रान्तिकारी पुस्तक "Origin of Spceies" के प्रकाशित होने के बाद साधारण विकासवाद की कल्पना के अनुरूप ही है। लेकिन यदि इस कल्पना को व्यवहारोपयोगी बनाना है तो और गहराई तक इसको ले जाना पड़ेगा। विशेषकर इस जानकारी की आवश्यकता है कि विश्व-संसार का निरन्तर रूप-परिवर्तन ऊपरी परिवर्तन ही तक सीमित नहीं है, बल्कि इसका बुनियादी संगठन भी उसमें सम्मिलित है और वे गतियाँ भी जिनके योग की सम्पूर्णता में विश्व की क्रियाशीलता है। इस ज्ञान से भी इसको समृद्ध करना चाहिए कि विश्व के असीम परिवर्तन में अपरिवर्तनीयता की मात्रा कितनी है। विज्ञान में पुनरावर्तन के दृष्टान्तों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

मूल, वस्तु या चेतना ?

मूल भूत है कि चेतना? इस प्रश्न के उत्तर में आधुनिक वैज्ञानिक एडिंगटन भी कहते हैं 'खोजते हुए अन्त में जहाँ पहुँचा वहाँ देखता हूँ मन की छाया-मात्र है।' वैज्ञानिक जीन्स गणित-शास्त्र के

पण्डित हैं। उनका कथन है—"अन्त में देखता हूँ विज्ञान की ही विजय है। विश्व का मूलाधार ईश्वर एक अंकशास्त्रविद् है और यह विश्व उसी के मस्तिष्क का एक अंक-मात्र है।" पूछा जा सकता है कि एडिंगटन का मानस और जीन्स का अंक क्या उनके मस्तिष्क और शरीर के ऊपर निर्भर नहीं है? क्या अपना मस्तिष्क और शरीर उनको अभौतिक या अतिभौतिक मालूम होता है?

जीन्स, एडिंगटन आदि की वर्णन की शैली में कुछ अन्तर है, उस पर आधुनिकता की मामूली छाप है, लेकिन बात पुरानी है—पिथागोरास का अंक, प्लेटो का आदर्श, उपनिषदों का ब्रह्म—केवल नई पोशाक में हमारे सामने आए हैं।

वस्तु को लाँघकर उसके पीछे किसी अवास्तव अलौकिक की प्रतिष्ठा की चेष्टा हमको अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती। श्रेणी-विभाजित समाज में वास्तव-जीवन जब अनिश्चित और जटिल होता है तब एक अलौकिक और अन्तिम सत्य की प्राप्ति से वास्तव-पीड़ित मन को सान्त्वना मिलती है। धर्म की प्रयोजनीयता का समर्थन करते हुए बड़े बड़े धार्मिक भी यही युक्ति पेश करते हैं। सब अभिज्ञता को धो-मिटा कर विशुद्ध परमार्थ की प्राप्ति से जीवन की अवहेलनाओं को भूला जा सकता है। इसी लिए कांट का कहना है कि ईश्वर को युक्ति से न जाना जा सकता है न प्रमाणित किया जा सकता है; ईश्वर आत्म-प्रत्यय का विषय है। हिन्दू-दर्शन की भाषा में ईश्वर अवाङ्मानस गोचर है। प्रयोजनवादी (Pragmatist) एक क़दम आगे बढ़कर कहता है कि ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है सही, लेकिन इसकी प्रयोजनीयता और उपकार है, इसलिए इसको मान लेना चाहिए।

प्रयोजनीयता की बात पर यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या ईश्वर की आवश्यकता को मनुष्य सदा एक ही रूप में अनुभव करता आया है? दार्शनिक पण्डितों की तत्त्व-व्याख्या की ग़लती यही है कि वे इतिहास को दूर रख कर दर्शन को युक्ति-तर्क की व्यायामशाला बना

रखना चाहते हैं। वास्तविक अभिज्ञता और व्यावहारिक ज्ञान को उन्होंने पहले ही अस्पृश्य क़रार दे रक्खा है।

यह जानना चाहिए कि मूल भूत है कि चेतना? यह प्रश्न कहाँ से आया। यही प्रश्न सारे दर्शन का पहला और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यही प्रश्न धर्म में कुछ भिन्न रूप में दिखलाई देता है कि भूत यदि मूल है तो वस्तु-जगत् का सृष्टिकर्ता कौन है? वस्तु-जगत् स्वयं-सिद्ध है कि ईश्वर-सृष्ट है। न्यूटन ने जब माध्याकर्षण-शक्ति (Gravity) का प्रमाण पेश किया तब धर्मवादियों ने उनको पकड़ा और पूछा कि आपको यह माध्याकर्षण-शक्ति आई कहाँ से? न्यूटन उसी समय विज्ञान-मन्दिर से बाहर निकल आये और उनको आश्वस्त किया। इस शक्ति का स्रष्टा है ईश्वर जिसने परमाणुओं की ईटों से इस दुनिया को रचा है। यही ईश्वर युक्तियों की गलियो द्वारा असंख्य नामों से आदर्शवादी दर्शन में प्रकाशित होता है। चेतना को जब मनुष्य से विच्छिन्न कर एक अलौकिक सत्ता का रूप दिया जाता है तब दर्शन की यह चेतना ईश्वर ही का नामान्तर-मात्र है। सभ्य जगत के दार्शनिकों ने अचानक इस चेतना का आविष्कार नहीं किया। आदिम जगली, असभ्य मनुष्य को ही वस्तु और चेतना के सम्पर्क के विषय मे सोचना पड़ा। यहाँ इतिहास के रास्ते हमको अपने पूर्व पुरुषों की भावना-धारणाओं का अनुसरण करना पड़ेगा।

फिलिपाइन के असभ्य इगोराओं से पूछिए, वे सीधी भाषा में कहेंगे--सब वस्तुओं के दो प्रकार के गुण हैं, एक दृश्यमान दूसरा अदृश्य। सभ्य जगत् के आदर्शवादी दार्शनिक अदृश्य को प्रकृतिजगत् के पीछे डाल रखते हैं, लेकिन असभ्य आदिम मनुष्य दृश्य और अदृश्य दोनों को वस्तुगत मानता है। दार्शनिक के अतिभौतिक जगत् को भी असभ्य आदिम मनुष्य मन्त्र-तन्त्र से वशीभूत करना चाहता है। आदिम असभ्य जातियों के ख़याल में वे असंख्य अतिभौतिक शक्तियों-द्वारा घिरे हुए हैं। सौंताल ओंरा और मुण्डा आदि जगली जातियों के लोगो की यह धारणा है कि प्रत्येक पहाड़, नदी और वन में अगणित प्रेत घूम रहे हैं। इन प्रेतों की रुचि

और प्रकृति जान कर इनको वश में लाने से प्रकृति-जगत् को वशीभूत किया जा सकता है। असभ्य मनुष्य के लिए प्राकृतिक शक्ति रहस्यमय है। उत्पादन व्यवस्था की शैशवावस्था मे मनुष्य के ऊपर प्रकृति का प्रताप प्रबल रहता है। इसी लिए आदिम मनुष्य अपनी ही तरह अनेकों अतिभौतिक शक्तियों का अनुमान करता है।

सभ्य मनुष्य का विश्वास है कि आध्यात्मिक शक्ति सदा मंगलमय है; लेकिन असभ्य मनुष्य के लिए यह शक्ति निष्ठुर है, इसलिए सदा ही उसको विपत्ति में डालती रहती है। पत्थर जब गिर कर आदमी को घायल करता है, अचानक पेड़ की डाल टूट जाती है तो यह सब प्रकार के भूतों या पेड़ के भूत की शैतानी छोड़ और क्या है? जब तक औज़ार हथियारों के ज्ञान की वृद्धि नहीं हुई तब तक असभ्य मनुष्य भूतों को वशीभूत करने के लिए मन्त्र-तन्त्र के ही फेर में पड़ा रहा। हथियार औज़ारों के ज्ञान बढ़ने के साथ साथ प्राकृतिक शक्ति पर मनुष्य की प्रभूता बढ़ने लगी और भूतों की ताक़त घटने लगी। भौतिक शक्ति निष्ठुर ही नहीं है बल्कि यह भलाई भी कर सकती है, जब इस धारणा का जन्म हुआ तब असभ्य मनुष्य के प्रेत-तत्त्व पर सभ्यता की मोहर पड़ी। प्रेत-तत्त्व है असभ्य मनुष्य का देवता-तत्त्व इसके ऊपर की सीढ़ी है—जो सभ्य मनुष्य का है। आदिम असभ्य मनुष्य के लिए प्रकृति है निष्ठुर, भयावह; प्रकृति के रहस्य का भेद जानकर सभ्य मनुष्य कहने लगा "मंगलमयी विश्व-जननी" यह परिवर्तन अकस्मात् एक दिन में नही हो गया। आदिम भूत-प्रेतों ने सभ्य होकर यह रूप ग्रहण किया है। आदिम मनुष्य का प्रेत-तत्त्व सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़कर सूक्ष्म बन गया है। आदिम असभ्य मनुष्य से बेर्गसॅ और श्री अरविन्द दूर ज़रूर हैं लेकिन रास्ता सीधा ही पहुँचा है। प्रकृति-जगत् को चलानेवाली है असंख्य निष्ठुर प्रेतों की शक्ति, इसी प्राथमिक कल्पना का संशोधित रूप है देवताओं की कल्पना। ये सब देवता प्रकृति-जगत् के एक एक हिस्से के मालिक हैं, ये भलाई भी करते हैं और बुराई भी कर सकते हैं। जल, अग्नि, वायु—सभी प्राकृतिक

शक्तियाँ किसी न किसी देवता के अधीन हैं। देव-समाज भी मनुष्य-समाज के साँचे पर ढला हुआ है। ये असंख्य देवता घटते-घटते एक ईश्वर तक पहुँचे। सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़कर वस्तु-जगत् के विषय में मनुष्य का ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा, त्यों-त्यों देवताओं की संख्या घटने लगी। मनुष्य ज्यों अगणित पदार्थों में एक मेल देखने लगा त्यों देवताओं का का बहुत्व भी एकत्व में परिणत हो गया।

पहले भूत, चैतन्य ? इस प्रश्न का आदिम असभ्य जातियों के प्रेत-तत्त्व से बहुत निकट सम्बन्ध है। इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि आदिम असभ्य मनुष्य को जीवन की प्राथमिक बातें सोचनी पड़ी थीं। अनुमान के ऊपर प्रतिष्ठित मन्त्र-तन्त्रों के द्वारा उनको जीवन धारण का कौशल सीखना पड़ा था। उनकी यह कोशिश चाहे जितने बचपन की हो, उसका मूल है जीवन धारण की अभिलाषा। इसलिए जीवन-मरण के रहस्य ने आदिम मनुष्य को काफ़ी चिन्तित कर डाला था। मनुष्य का शरीर जीवित अवस्था में एक प्रकार का और मरने पर दूसरे प्रकार का क्यों होता है ? जागरण, निद्रा, स्वप्न, रोग और व्याधि——ये सब क्यों होते हैं ? स्वप्न में जो मनुष्य-मूर्तियाँ दिखाई देती हैं, वे सब क्या हैं ? स्वप्न में मनुष्यों की जो छायामूर्ति दिखाई देती है, वह ही शायद जीवन की कुंजी है। शायद इस छायामूर्ति का शरीर छोड़ना ही मृत्यु है। असभ्य मनुष्य की प्रेतात्मा की धारणा इसी प्रकार बनी है। यहाँ इस धारणा की ऐतिहासिक आलोचना करने की आवश्यकता नहीं; लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि यही प्रेतात्मा सभ्यता के साबुन में धुल कर चैतन्य परमात्मा आदि बन गई है। मानव आत्मा के विषय में असभ्य जातियों की धारणा है कि यह सूक्ष्म भाप की तरह है। इसके शरीर त्याग देने से ही मृत्यु हो जाती है।

मनुष्य तथा अन्य उन्नत प्राणियों के शरीर-धारण के लिए श्वास-क्रिया बहुत ही आवश्यक है। मरते समय श्वास क्रिया क्षीण होते होते बन्द हो जाती है। आदिम असभ्य जातियों ने भी इसको देखा था। इसी लिए श्वास-क्रिया को ही उन्होंने आत्मा मान लिया था। आस्ट्रेलिया के

आदिम निवासियों की भाषा में 'श्वास' 'प्राण' और 'आत्मा' इन सब के लिए एक ही शब्द है। हिब्रू तथा सभी आर्य भाषाओं के भाषा-विज्ञान में श्वास और आत्माबोधक शब्दों का निकट सम्बन्ध है। (यूनानी Psyche और Pneuma; लैटिन animus, anima, spiritus; इनका रूप-परिवर्तन इसी प्रकार से हुआ है)।

मनुष्य का शरीर-सम्बन्धी ज्ञान जितना ही उन्नत होता गया है, आत्मा की धारणा भी उतनी ही सूक्ष्म होती आई है और शरीर और आत्मा का अविच्छेद्य सम्बन्ध उन्हें दिखलाई देने लगा है। शरीर के साथ ही आत्मा का निधन होता है, इस बात को मनुष्य ने सभ्यता के प्राचीन युग में ही मान लिया था। पश्चात् आत्मा के दो भाग किये गये—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा नश्वर है, लेकिन परमात्मा अमर है। देहातीत आत्मा या चैतन्य इस तरह ज़िन्दा रहा। प्लेटो और अरस्तू, रामानुज और शंकर सभी ने विदेही आत्मा को इस प्रकार ईश्वर या ब्रह्म के साथ जोड़ दिया। यह शरीर-संलग्न आत्मा किसी के लिए स्वर्ग-भ्रष्ट आत्मा है और किसी के लिए मायाबद्ध अहंमात्र है। बात यह है कि आदिम मनुष्य की कल्पित वाष्पाकार प्रेतात्मा सूक्ष्म होकर नये रूप में दिखलाई देने लगी। सभ्य मनुष्य के दर्शन और मनोविज्ञान पर इस सूक्ष्म आत्मा-पुरुष का प्रभाव अब भी बिलकुल मिटा नहीं। इसी लिए टाइलर का कहना है कि सभ्य जगत् के दार्शनिकों की देश-कालातीत निराकार परमात्मा की धारणा का मूल है आदिम असभ्य मनुष्य की वाष्पाकार वास्तव प्रेतात्मा। आदिम मनुष्य की धारणा में प्रेतात्मा का सूक्ष्म शरीर होता था। वही सूक्ष्म देहधारी प्रेतात्मा सभ्य मनुष्य के दर्शन में विदेही परमात्मा बन गई है।

विदेह न बनाकर भी कोई उपाय नहीं। असभ्य मनुष्य के निकट प्राकृतिक और अलौकिक दोनों ही प्रत्यक्ष सत्य है: उनका विज्ञान प्रधानतः मन्त्र-तन्त्र है। सभ्य जगत् में विज्ञान की उन्नति रोकी नहीं जा सकी। विज्ञान अलौकिक शक्ति की कोई परवाह नही करता, बल्कि

असभ्य मनुष्य के कल्पित अलौकिक के राज्य को क्रमशः संकीर्ण बना देता है। यही कारण है कि विज्ञान के प्रभावस्वरूप दर्शन की आत्मा क्रमशः विशुद्ध होती आई है, यानी इसका प्रमाण प्रयोग के बाहर ले जाकर इन्द्रिय-बुद्धि से परे रक्खा गया है। इसी आत्मा को सारे विश्व-तत्त्व के मूल में उन्होंने विराजमान देखा। शंकर वेदान्त के अनुसार विश्व का मूलाधार ब्रह्म और आत्मन् एक ही चीज़ है—तत्त्वमसि।

अब दर्शन के उसी पहले प्रश्न पर फिर लौट आइए—मूल भूत है या चैतन्य ? हमने देख लिया कि इस प्रश्न का आरम्भ है आदिम असभ्य मनुष्य की चिन्ताधारा में। इसी लिए एंगेल्स ने कहा है कि आदिम प्रेत तत्त्व ही सभ्य समाज के धर्म तत्त्व के मूल में है और धर्म ही के ज़रिए यह प्रेतवाद सूक्ष्म रूप धारण कर सभ्य जगत् के दर्शन का परमार्थ तत्त्व बन गया है। उन्नीसवीं सदी के साम्राज्य विस्तार के साथ अफ़्रीक़ा, दक्षिणी अमेरिका और आस्ट्रेलिया की आदिम असभ्य जातियों के साथ सभ्य मनुष्य का घनिष्ठ परिचय हुआ। इस समय मनुष्य के आदिम असभ्य जीवन के इतिहास का बहुत मसाला मिला। इससे मर्गान, टाइलर, फ़्रेज़र और दूसरे विद्वानों ने मनुष्यों के आचार-विचारों में एक साधारण मेल देखा। देखा गया कि प्रत्येक युग में देश और जातियों की सीमा अतिक्रम कर मनुष्य की विचार-धारा एक प्रकार रही है। प्रेत-तत्त्व, जादू विद्या, अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद इत्यादि मनुष्य की चिन्ताधारा की सीढ़ियाँ सभी देशों में एक ही प्रकार की रही है। यह भी सन्धान मिलता है कि यह तत्त्व-विचार जीवन की गति के छन्द में ही बदलता रहा है और सूक्ष्म भी होता आया है। हमारे असभ्य पूर्व पुरुषों का प्रेत-विश्वास ही सभ्य मनुष्यों के अध्यात्मवाद के मूल में है, इससे हमारे सभ्यतागर्वी मन को चोट पहुँचती है, लेकिन इतिहास इसका साक्षी है।

चेतना प्रकृति से परे है, इस विचार का आरम्भ कैसे हुआ, यह हमने देख लिया। इस विचार के विकास का भी हमने अध्ययन कर लिया। इसी प्रकार से प्रकृति-जगत् का इतिहास भी हमको यह दिखलाता है कि

चेतना की उत्पत्ति भी वस्तु जगत् में ही है। आदर्शवादी दार्शनिक कहता है कि चेतना ही भूत का मूल है, लेकिन विज्ञान ने यह भली भाँति प्रमाणित किया है कि चेतना सदा से नहीं रही। वस्तु-जगत् के इतिहास में ऐसा भी समय था जब जीव-जगत् का अस्तित्व नही था। वस्तु निरपेक्ष चेतना, रक्त-मांस-विहीन अदृश्य ये धारणायें मनुष्य की बुद्धि-प्रसूत है। इसकी प्रसव-क्रिया को भी हमने देख लिया। लेकिन मनुष्य से भी पहले, जीव-जगत् के अस्तित्व के पहले, चेतना का अस्तित्व है, यह सम्भव नही। भूत से ही चेतना की उत्पत्ति है, इसलिए भूत ही पहले है। चेतना सर्वतोप्रकार भूत के पश्चात् है। अध्यात्मवादी वस्तु और चेतना के सम्पर्क को केवल बुद्धि-द्वारा जाँचते हैं, लेकिन मार्क्सवादी इसकी ऐतिहासिक आलोचना करते है।

आदिम मानव की अपरिणत विज्ञान-बुद्धि ने वस्तु-जगत् मे मनुष्य की ही भावना-धारणा की छाया देखी है। उसी ने प्रेत परमात्मा, देवता ईश्वर आदर्श आदि का रूप लिया है। सदियों पहले चार्वाक और ज़ेनो-फ़ेनीज़ ने इसका अनुमान किया था। शताब्दियों की वैज्ञानिक गवेषणा से प्रमाण मिलता है कि भूत से ही चेतना की उत्पत्ति हुई है। चेतना भूत के ही विकास की एक विशेष अवस्था है। इस चेतना का, चाहे यह मनुष्य की हो चाहे किसी और प्राणी-विशेष की, भूत-जगत् से अलाहिदा कहीं पता नही चलता। अध्यात्मवादी मूर्ख विज्ञान, भूतत्त्व और जीव-विज्ञान के प्रमाणित सिद्धान्तों को मान भी लेते है लेकिन साथ ही साथ कहेंगे कि अस्फुट चेतना ने तो सारे जगत् को छा रक्खा है—यह विश्व चेतनामय है। इस प्रकार भूत-जगत् की एक विशेष वस्तु या गुण को वह इसके मूल मे बिठला देते हैं; मनुष्य की चेतना को देश कालातीत मान कर इसको भूत जगत् की चेतना का रूप दे देते हैं।

अनुभव ही इस अध्यात्मवादी युक्ति का अन्तिम उत्तर है। शरीर-विहीन चेतना का कोई अस्तित्व नही है। वर्वर के प्रेत की तरह मानव-कल्पना का यह प्रतिबिम्ब है। मार्क्सवाद इसी लिए इतिहास के ऊपर

जोर देता है; इस इतिहास अर्थ राजाओं का युद्ध नहीं है। यह समग्र मानव-समाज और सारे विश्व का इतिहास है। इतिहास ही चेतना के ऐतिहासिक जन्म का प्रमाण है; यह चेतना देश और काल से सीमित है। अध्यात्मवादी क्या करते हैं? वे मनुष्य की किसी एक मानसिक क्रिया को मूल सत्य मानकर इसी को भूत-जगत् के मूल में पहुँचा देते हैं-- कोई कहता है कि भूत के मूल में है प्रज्ञा (Reason), कोई कहता है इच्छा-शक्ति (Will) और कोई कहता है प्राणशक्ति (Elan Vital)। जहाँ तक जान पड़ता है, जीव-जगत् में मनुष्य को ही केवल अमूर्त भावना की क्षमता प्राप्त है। मानव मस्तिष्क और शरीर के संगठन की विशिष्टता से ही इस क्षमता की उत्पत्ति है। असंख्य मनुष्यों की अभिज्ञता से ही 'मनुष्य' नाम की साधारण संज्ञा बनती है। लेकिन इन असंख्य मनुष्यों को छोड़कर इस साधारण संज्ञा का स्वतन्त्र अस्तित्व कहाँ रह जाता है? साधारण संज्ञा मनुष्य की विचार-क्रिया की एक पद्धति है; यह मनुष्य के जीवन-धारण के काम आती है। अन्यान्य जीव बाहरी जगत् की प्रेरणाओं को मिलाकर अमूर्त भावना की सृष्टि नहीं कर सकते और इसी लिए प्रकृति के सामने उनकी अक्षमता अधिक है। साधारण संज्ञा की सृष्टि की क्षमता ने मनुष्य को प्रकृति के रहस्य को समझने मे काफ़ी सहायता पहुँचाई है। लेकिन यही क्षमता मनुष्य के मन में भ्रान्ति की सृष्टि कर सकती है और करती है। साधारण संज्ञा वास्तव की अभिज्ञता से ही बनती है लेकिन मनुष्य का मन इसको वास्तव से हटा कर इसके एक स्वतन्त्र अस्तित्व की सृष्टि कर सकता है; और कर सकता है, इसी लिए मनुष्य की विचार-धारा को 'चेतना', 'प्रज्ञा' आदि अनेकों साधारण संज्ञाओ में परिवर्तित किया जा सकता है। आदर्शवादी यह भूलकर कि 'चेतना', 'प्रज्ञा' आदि साधारण संज्ञायें असंख्य जीवों की विशेष अवस्था पर निर्भर है, इनको एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप मे देखने है।

भूत में ही चेतना का जन्म है, निर्विशेष चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है; यह असंख्य मनुष्य अथवा जीवों की चेतनाओं की साधारण संज्ञा-

मात्र है। अध्यात्मवादी करते यह हैं कि इन असंख्य मनुष्यों और जीवों की भावना धारणाओं को मिलाकर 'चेतना' या ऐसा ही कुछ नाम देकर भूत के मूल में प्रतिष्ठित करते हैं। चेतना, इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति आदि ये सभी संज्ञाएँ वास्तव जगत् के अनेकों मनुष्यों के जीवन-मरण के सूत्र मे बँधी हुई है।

द्वन्द्वन्याय और आधुनिक विज्ञान

आधुनिक विज्ञान ने द्वन्द्वमान के सिद्धान्त को भली भाँति प्रतिष्ठित कर दिया है। विज्ञान का विकास द्वन्द्वमान के नियमों का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस दिशा मे क्रान्तिकारी अग्रदूत हुए रूसी रासायनिक दमित्री मेन्डेलीफ़। उन्होंने दिखलाया कि यदि रसायन के (Elements) मूल पदार्थों को उनके (Atomic weight) परमाणु के वजन के अनुसार सजाया जाय तो उनका इस प्रकार का क्रम बन जाता है कि वे आस-पास और ऊपर-नीचे सब प्रकार से सम्बन्धित रहते हैं। मेन्डेलीफ़ के नक़शे मे मूल पदार्थों की कुछ श्रेणियाँ बनाई गई हैं। हर एक श्रेणी में मूल पदार्थों का जो क्रम है, उसमें उनके परमाणुओं के वजन में ज्यों ज्यों वृद्धि होती जाती है, उनके गुणों में उसी प्रकार परिवर्तन होता जाता है। इसके अलावा प्रत्येक परवर्ती श्रेणी में पिछली श्रेणी के पारस्परिक सम्बन्ध की पुनरावृत्ति होती है लेकिन एक उच्च स्तर पर। इस नक़शे मे कुछ ख़ाने खाली थे। मेन्डेलीफ़ ने यह भविष्यवाणी की कि एक विशिष्ट Atomic weight और विशेष गुण-सम्पन्न मूल पदार्थों से इन ख़ानों की पूर्ति होगी--और इन मूल पदार्थों (Elements) का आविष्कार हुआ।

इस चित्र का महत्त्व यह है कि इससे यह साबित हो गया कि रसायन के मूल पदार्थों के गुणों की विभिन्नता उनके संगठन के परिमाण-भेद पर निर्भर है। मेन्डेलीफ़ ने मरते समय तक इस आशा का पोषण

किया कि विभिन्न गुण सम्पन्न मूल पदार्थ एक ही मूल पदार्थ Ether के विभिन्न परिमाणों के संयोग से बने हुए हैं।

मेन्डेलीफ की मृत्यु (१९०७) के पश्चात् मोसले ने १९१२ में एक नई गणनानुसार उनके सिद्धान्तों को और पुष्ट किया। मोसले के प्रयोगों ने यह सिद्ध किया कि मूल पदार्थों का गुण-भेद उनके सांगठनिक परिमाण-भेद का ही फल है। ऐसे मूल पदार्थों का पता लगा जो दूसरे मूल पदार्थों में परिणत हो जाते हैं।

विज्ञान की गति यहीं पर नहीं रुकती। स्वयं परमाणु भी अविभाज्य नही रहा। यह Electron परिवेष्टित कोष के रूप में दिखाई देने लगा। अब Table की भित्ति बनी कोष (Nucleus) और Electron दोनों का परिमाण भेद। यह कोष धन-तड़ित्-सम्पन्न है जिसका नाम पड़ा Proton Electron वियोग तड़ित् सम्पन्न है।

इससे दो महत्त्वपूर्ण नतीजे निकाले गए। एक यह कि परमाणु तड़ित् पिण्ड-मात्र है और दूसरा यह कि परमाणु विरोधों का एकत्व है। प्रथम नतीजे का परिणाम यह निकला कि बिजली चूंकि शक्ति का रूप है, भूत शक्ति ही है; लेकिन साथ ही साथ इस शक्ति का माप और वजन होने के कारण शक्ति भी भूत ही है। इस प्रकार हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के उस सिद्धान्त पर उपनीत होते हैं कि भूत शक्ति का गति रहित रूप है और शक्ति भूत का चञ्चल रूप है। साथ ही भूत की गति को यान्त्रिक रूप मे न पाकर द्वन्द्वात्मक रूप मे पाते हैं।

पुनः यह आविष्कार किया गया कि परमाणु ही भूत का अन्तिम रूप नहीं है। पहले ही कहा जा चुका है कि परमाणु Electron वेष्टित कोष है। अब देखा गया कि सभी Electron वियोग-तड़ित्-सम्पन्न नहीं हैं। कुछ धन-तड़ित-सम्पन्न भी हैं। पहले का नाम पड़ा Negatron और दूसरे का Positron। अब देखा गया कि इस कोष का भी एक सूक्ष्म कोष (Negatron) है जो (Positron) वेष्टित

रहता है और एक नियत संख्या के (Negatron) के संयोग से यह परमाणु में परिणत हो जाता है। Positron और Negatron का सयोग होने से दोनों एक चमक पैदा कर उड़ जाते हैं। यह समझा जा सकता है कि इस सूक्ष्म कोष से एक और सूक्ष्मतर कोष का आविष्कार हो सकेगा। इससे इस भ्रम का निराकरण होता है कि किसी एक सूक्ष्मतम कण के उपादान से ही विश्वसंसार का निर्माण किया गया है।

एक बात और जान लेनी चाहिए। कुछ आधुनिक वैज्ञानिक अब रहस्यवाद की शरण लेते हैं। उनका कहना है कि भूत शक्ति ही है और इस शक्ति के पूर्णरूप का बोध नहीं हो सकता है। लेकिन यह बात सही नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भूत बिजली ही है तथापि इस बिजली का परिमाण और वज़न है इसलिए भूत की धारणा भले ही बदल जाय, इसका अस्तित्व मिट नहीं जाता। Jackson के शब्दों में उन वैज्ञानिकों की, जो भूत को केवल शक्ति का ही संगठन मानते हैं, तुलना उस वीर से की जा सकती है जिसने केवल धार से तलवार बनाई अथवा उन केवटों से जिन्होंने जाल की यह परिभाषा की कि यह सुतली से बँधा हुआ छेद है।

Einstein के आपेक्षिकता के नियम का प्रारम्भ है कि निरपेक्ष गति की न तो धारणा की जा सकती है और न इसको मापा जा सकता है। किसी दी हुई रेखा या विन्दु से ही इसको मापा जा सकता है। इससे कुछ वैज्ञानिक इस नतीजे पर पहुँचे कि गति वास्तव नहीं है। लेकिन यह हेगेल का ही सिद्धान्त है कि अस्तित्व सम्बन्ध-बोधक है। किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के द्वारा ही मापा जा सकता है और किसी पदार्थ का गुण किसी दूसरे पदार्थ के ऊपर प्रतिक्रिया का नाम है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रयोग को ही प्रथम स्थान देता है। निरपेक्ष गति हो या न हो, हमारे लिए घड़ी और स्थान दोनों की आवश्यकता है, इसलिए दोनों ही वास्तव हैं।

क्या मनुष्य की इच्छा-शक्ति स्वाधीन है ?

मनुष्य की इच्छा स्वाधीन है या नहीं, यह दार्शनिक क्षेत्र में एक प्राचीन प्रश्न है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसका उत्तर देता है––नहीं। इस प्रश्न का मूल भी धर्म-विद्या में है। यदि मनुष्य का कर्म उसकी स्वेच्छा से नहीं है तो वह पाप-पुण्य के भार से मुक्त हो जाता है तथा स्वर्ग और नरक का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यही कारण है कि धर्म-विद्या मनुष्य की इच्छा को स्वतन्त्र मानती है।

इस प्रश्न का यों विचार कीजिए। सारा संसार कार्य-कारण के नियम मे बँधा हुआ है। क्या मनुष्य इस संसार का अंश नही है? केवल मात्र मनुष्य की इच्छा ही क्या इस प्राकृतिक नियम के परे है? इस प्रश्न का उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है। सब वस्तुओं की तरह मनुष्य की इच्छा भी कारण-जनित है, उसकी इच्छा के प्राकृतिक तथा सामाजिक कारण हैं। मनुष्य ऐसा सोचता अवश्य है कि अपनी इच्छानुसार ही वह सब कुछ करता है लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। कवि ने उदाहरण दिया है कि प्रत्येक वारिबिन्दु भी यह सोचता है कि अपनी इच्छा से ही वह जमीन पर गिरता है, मातृस्तन पीते समय बच्चा भी सोचता है कि अपनी इच्छा को ही वह पूरी कर रहा है।

यदि हमारी इच्छा स्वाधीन नहीं है तो वाध्य होने पर ही कोई काम हम करते हैं। इस वाध्यता के सम्बन्ध में हेगेल ने लिखा है–– "वाध्यता उसी हद तक दृष्टिहीन है जहाँ तक हम इसको समझते नहीं।" इस पर टीका करते हुए एंगेल्स ने लिखा है कि प्रकृति और मनुष्य के साम्राज्य में ही स्वतन्त्रता का निवास है और इसकी बुनियाद है प्रकृति की मजबूरियों का ज्ञान। इसका खण्डन करते हुए यह कहा जाता है कि जहाँ हम मजबूरी के सामने सर झुकाते हैं वहाँ स्वतन्त्रता कहाँ? यहाँ पर मजबूरी के अर्थ पर हमें ग़ौर करना चाहिए। ऐरिस्टॅट्ल (अरस्तू) ने इस अवश्यम्भाविवाद या नियतिवाद के विभिन्न अर्थों पर बहुत पहले ही विचार किया था। यदि हमें रोगमुक्त होना है तो दवा लेने के लिए

हम वाध्य हैं; जीवन धारण के लिए श्वास लेना आवश्यक है; प्रयाग में दिये गये कर्ज की वसूली के लिए वहाँ जाना जरूरी है। यह प्रयोजनीयता अवस्था-निर्भर (Conditional) है। एक अवस्था दूसरी अवस्था पर निर्भर है यथा जीवन धारण श्वास लेने पर निर्भर है। मनुष्य को बहिः प्रकृति के सम्बन्ध में इसी तरह की मजबूरियों का सामना करना पड़ता है। फ़सल काटने के लिए फ़सल का बोना ज़रूरी है। इसमें कुछ लोगों को पराधीनता की बू आती है। निःसन्देह मनुष्य अधिक स्वतन्त्र होता यदि बिना परिश्रम ही उसकी आवश्यकतायें पूरी हो जातीं। जब वह प्रकृति को अपना मतलब पूरा करने के लिए वाध्य करता है तब भी वह प्रकृति का अनुवर्ती है। लेकिन यह अनुवर्तिता ही उसकी स्वतन्त्रता की शर्त है। प्रकृति का अनुगामी बन कर वह प्रकृति पर विजय पाता है और इस प्रकार वह अपनी स्वतन्त्रता के राज्य का विस्तार करता है। अब हेगेल के इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि "प्रयोजन की स्वीकृति ही स्वतन्त्रता है।"

पूंजीवादी व्यवस्था और इच्छा स्वाधीनता--श्रेणी-विभाजन समाज में जितना ही सुदृढ़ होता गया, शासक-श्रेणी उतनी ही उत्पादन-शक्तियों से दूर हटती गई। कृषि-कार्य का भार, कारख़ाना चलाने का भार होता है गुलामों के ऊपर, मजदूरों के ऊपर। पूँजीपति सोच-विचार कर समाज-व्यवस्था के नीतिविधान की रचना-मात्र करते है। वस्तु-जगत् का उनसे कोई सम्पर्क नहीं। हाथ पैर से काम करने के लिए है मज़दूर, मिस्त्री या इन्जीनियर। लाभकारी आविष्कार के लिए है वैज्ञानिक। यहाँ तक कि पूँजीपति को देखभाल की भी आवश्यकता नहीं। फ़ारस में तेल की खानें चलती हैं और लाखों मील दूर बैठकर पूँजीपति मुनाफ़ा कमाता है। धनिक वस्तु-जगत् के जिस अंश का भोग करता है वहाँ वह देखता है कि वही कर्ता है, स्वाधीन और सर्वेसर्वा है, उसी की आज्ञा से सब चलता है। इसलिए आधुनिक संस्कृति और दर्शन में इच्छा स्वाधीनता का दावा सहज ही मंजूर हो जाता है।

वर्तमान आदर्शवादी दार्शनिक इच्छा स्वतन्त्रता के दावे के प्रमाण के लिए आधुनिक विज्ञान की शरण लेते हैं। Heisenberg के Principle of Inaeterminacy में उनको एक सहारा मिलता है। संक्षेप में इसका सिद्धान्त यह है कि कोई Electron दूसरे मुहूर्त में क्या करेगा यह निश्चय नहीं। Electron एक कक्ष से दूसरे कक्ष को कूद रहा है लेकिन कौन Electron कूदेगा इसका कोई निश्चय नहीं। जीन्स, एडिंगटन, शोडिंगेर इसी को इच्छा-स्वतन्त्रता के प्रमाण के रूप में सादर अभ्यर्थना करते हैं। यहाँ पर दो बातें जान लेने की आवश्यकता है। एक यह कि किसी एक Electron की गति विधि को लक्ष्य करने के लिए उसके ऊपर जो आलोकपात किया जाता है उसी से उसका स्थान-परिवर्तन हो जाता है; दूसरी बात यह कि Bhor के Correspondence principle के अनुसार परमाणुओं के संख्याधिक्य से उनकी गति की निश्चयता बढ़ जाती है। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भी कारण-विहीन स्वतन्त्रता का अन्त कर देता है।

द्वन्द्वन्याय और अन्तिम सत्य

द्वन्द्वमान किसी भी सत्य को अन्तिम नहीं मानता। इसके विपरीत आदर्शवादी दर्शन हर समय एक अन्तिम सत्य की खोज करता रहता है। यह सत्य अनादि, अनन्त और निर्विकार है। लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस परिवर्तनशील जगत् में अपरिवर्तनीय सत्य की खोज नहीं करता। इस दृष्टिकोण की कहीं अन्तिम समाप्ति नहीं है। भूत जगत् निरन्तर प्रवाहमान है, कहीं विराम नहीं। हम व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से और प्रकृति को विचारवद्ध करने की दृष्टि से वस्तु-जगत् की किसी एक दिशा की विशिष्टताओं को अलग कर लेते हैं, लेकिन सनातन युक्ति का अनुसरण कर इनको अपरिवर्तनीय नहीं मानते। परमाणु गतिशील तरंग की तरह है—लेकिन यह केवल वस्तु-जगत् के एक विशेष क्षेत्र के लिए ही सत्य है; दूसरे क्षेत्र में यही ठोस

पदार्थ का आकार ग्रहण करता है। चेतन और अचेतन पदार्थ को हम पृथक् रूप में देखते हैं और इस पार्थक्य की आपेक्षिकता को भी देखते हैं; चेतन पदार्थ के बीच भी अचेतन पदार्थ का उपादान है; भूत जगत् के अन्तर्निहित विरोधी गुण ही कभी चेतन और कभी अचेतन पदार्थ की सृष्टि करते हैं। एक अवस्था में परमाणु अविभाज्य और मौलिक दीखता है, और यही फिर अपनी शक्ति मे ही टूट कर नये परमाणु को जन्म देता है। पञ्चेंद्रिय की क्षमता की सीमा को हम देखते हैं, पुनः ये ही यन्त्र की सहायता से अदृश्य को दृश्यमान करते हैं। Infra Red फ़ोटो प्लेट में कोहरे के भीतर से १५-२० मील दूर की तसवीर उतर आती है।

वस्तु-जगत् के गति-प्रवाह में कोई विराम नहीं है। एक ही वस्तु की विरोधी शक्ति उसको एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है—कणिका से तरंग और अचेतन से सचेतन हो रही है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रकार वैज्ञानिक परीक्षा के क्षेत्र में प्रमाणित हो रहा है।

बँधी पगडण्डी पर चलनेवाले बुर्जोआ बुद्धिजीवी अवज्ञा के साथ कहते हैं कि विज्ञान के सिद्धान्त तो रोज़ बदलते रहते हैं—उनकी सत्यता कहाँ? नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर कर जो योगबल से सभी जान लेते हैं उनके सिद्धान्त बदलते नहीं, क्योंकि उन्होंने तो अन्तिम सत्य पर अधिकार जमा लिया है। लेकिन वैज्ञानिक सिद्धान्त तो बदलते रहते हैं; व्यवहार में इन सिद्धान्तों की जाँच होती रहती है और यहीं पर वैज्ञानिक सिद्धान्त की सार्थकता है।

याद रखना होगा कि ज्ञान-विज्ञान सभी मनुष्य के कर्म और विचार के बीच सृष्ट होते हैं। वैज्ञानिक तत्त्व पारस-पत्थर की तरह एकाएक नहीं मिल जाता। मनुष्य के कर्म और विचार की क्षमता उसकी शिक्षा, पारिपार्श्विक और यन्त्रादि के ऊपर निर्भर है। यदि अलौकिक प्रेरणा ही ज्ञान का मूल होती तो पाँच साल की उम्र का सौंताली बालक भी जंगल में बैठकर ही सब कुछ आविष्कार कर लेता।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों की आपेक्षिकता का कारण यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान उत्पादन-व्यवस्था की उन्नति तथा वैज्ञानिक की शिक्षा का स्तर और पारिपार्श्विक के ऊपर निर्भर है। दूसरा कारण यह है कि वैज्ञानिक तत्त्व का संग्रह हम भूत जगत् से करते हैं। यदि यह भूत जगत् अपरिवर्तनीय होता तो हम सब कुछ बिना अवशिष्ट के जान सकते। लेकिन यह भूत जगत् ही द्वन्द्वात्मक रीति मे बनता बिगड़ता है। इस ध्वंस और निर्माण के एक विशेष अंश को अलग कर, इसकी परीक्षा कर अपने ज्ञान की सत्यता को हम प्रमाणित करते हैं। परन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमको आगाह कर देता है कि चरम ज्ञान की खोज मत करो क्योंकि जिसको जान रहे हो उसी का कोई चरम शेष नहीं है—भूत जगत् निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। नुक्ताबंद घोड़े की तरह चलनेवाले बुर्जोआ दार्शनिक तब नसीब ठोंक कर कहते हैं—"इसी लिए तो सभी माया है! हम कुछ नही जान सकते। परमपिता परमेश्वर ही जान सकते हैं। व्यावहारिक ज्ञान यह सिद्ध करता है कि भूत जगत् को हम जान सकते हैं—इसका पूर्वभाग है लेकिन इसकी कोई सीमा नही है। यदि तुम्हारा यह खयाल है कि एक विराम दण्ड खींचे बिना तुम्हारे मन को सान्त्वना नहीं मिलेगी—समुद्र के उच्छ्वास के स्तब्ध हुए बिना समुद्र का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा तो यह तुम्हारी ही दुर्बलता है—न भूत जगत् का कोई अपराध है न वैज्ञानिक धारा की कोई त्रुटि। वैज्ञानिक हर समय नये तत्त्व और नये तथ्य का सन्धान करता रहता है; और हर एक वैज्ञानिक सत्य भूत जगत् के गति-प्रवाह का आपेक्षिक और आंशिक विवरण-मात्र है। इसको भ्रम कह कर उड़ाया नहीं जा सकता।

भौगोलिक तत्त्व का एक दृष्टान्त ले लीजिए। भारतवर्ष का जो वर्तमान मानचित्र हम आज देख रहे हैं वह क्या सदा से ऐसा ही रहा है? २००० वर्ष पूर्व भारतवर्ष का जो रूप था वह आज से बहुत भिन्न था। और १०,००० वर्ष बाद इसका रूप और भी बदल जायगा। बंगाल की खाड़ी के बीच रेत उठ सकता है, कोई पहाड़ ऊँचा या नीचा हो सकता

है, किसी नदी का प्रवाह बदल सकता है। इसलिए आज का मानचित्र जो परीक्षित सत्य है, १०,००० वर्ष बाद वह एक ऐतिहासिक सत्य-मात्र रह जायगा। ग्रीनलैंड की वर्तमान अवस्था के वर्णन का, २,००० वर्ष पूर्व की अवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। आज वह जनविहीन है; एक समय वह जनबहूल था और वहाँ का जल-वायु मनुष्य के निवास करने के लिए उपयुक्त था। ये भौगोलिक सत्य चरम सिद्धान्त नहीं हो सकते क्योंकि भौगोलिक अवस्था परिवर्तनशील है। वैज्ञानिक सिद्धान्त भी इसी लिए आपेक्षिक हैं, तथापि ये परीक्षा-सिद्ध और कार्यकारी हैं; तर्क की आतिशबाजी से इस सत्य को उड़ाया नहीं जा सकता।

वैज्ञानिक सत्य में एक दूसरे प्रकार की आपेक्षिकता है। एक दृष्टान्त ले लीजिए। जब चन्द्र के ऊपर पृथ्वी की छाया पड़ती है तो हम कहते हैं कि चन्द्रग्रहण हो गया। हमारी यह दृष्टि पृथ्वी से सम्पर्कित है। इसी घटना को यदि कोई चन्द्र के ऊपर से देखे तो वह कहेगा कि सूर्यग्रहण हो गया है; क्योंकि चन्द्र के ऊपर से वह देखेगा कि सूर्य के ऊपर पृथ्वी की छाया पडी है। जिस घटना का अवलोकन किया जा रहा है वह न भूल है न माया। दृष्टि-केन्द्र (Frame of Reference) की विभिन्नता के कारण एक ही घटना दो प्रकार से दीख रही है। यहाँ भी वैज्ञानिक ज्ञान की आपेक्षिकता प्रमाणित हो रही है।

सत्य आपेक्षिक है सही, लेकिन इस आपेक्षिकता को अति तक पहुँचाया जा सकता है और तब यह हास्यास्पद बन जाता है। इसी प्रकार की आपेक्षिकता की आड़ लेकर वर्तमान पूँजीवादी भविष्य के एक वैज्ञानिक चित्र को देखने से मुंह मोड़ता है।

सत्य की परिभाषा करते हुए लेनिन ने लिखा है कि यह दृश्यगत घटना के सब पहलुओं का जोड़ है, उनकी वास्तविकता है और परस्पर निर्भरता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और आधुनिक दर्शन

आधुनिक दर्शनों पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालने से मार्क्सवादी ही दर्शन का महत्त्व और स्पष्ट हो जाता है। जहाँ आधुनिक दर्शन मायाविमूढ़

की तरह हमको पथ-भ्रष्ट करता है वहाँ मार्क्सीय दर्शन हमको जीवन-पथ का निर्देश करता है। यहाँ दृष्टान्त के लिए केवल (Pragmatist) दर्शन का एक बहुत संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

(Pragmatism) के जन्मदाता (William James का) कहना है—"जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता है वही सत्य है। सत्य हमारे विचारों मे प्रतिविम्बित वास्तविकता का रूप नहीं है बल्कि जो व्यक्ति विशेष की भावनाओं और आवश्यकताओं के साथ खप जाता है।" शिलर का मत भी इसी प्रकार है। सामाजिक मनुष्य वास्तव भूत की विचार-क्रिया से सत्य पर उपनीत नही होता है। बल्कि मनुष्य ही सत्य की सृष्टि करता है।

(Pirandello) के नाटक "तुम सही हो यदि तुम अपने को ठीक समझते हो" मे इस दर्शनवाद का सुन्दर चित्र मिलता है। "तुमको हाँ या ना करने के लिए दस्तावेज का प्रमाण चाहिए। मेरे लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि मेरी राय में इन दस्तावेज़ों में सत्य का निवास नहीं बल्कि उन व्यक्तियों के मन में है जिसके अन्दर सिवा उन्हीं के दिये हुए प्रमाण से हम प्रवेश नही कर सकते।

डिवी के शब्दों में हमारे लिए सत्य वही है जिससे हमको सहायता मिलती है और जिसका हमारे ऊपर प्रभाव है। प्रयोजनवाद (Pragmatism)का सारतत्त्व यही है कि व्यावहारिकता ही हमारे लिए सब कुछ है, इससे अधिक हम कुछ नही जान सकते। यह दर्शन साम्राज्यवाद की अवनति का द्योतक है।

फ़ॉयेरबाख़ पर मार्क्स के सूत्र

फ़ॉयेरबाख़ पर मार्क्स के ग्यारह सूत्र मार्क्सीय दर्शन के सक्षिप्त सार-स्वरूप हैं तथा इस दर्शन के इतिहास के ऊपर प्रयोग के एक साधन-स्वरूप भी हैं। ये सूत्र इस प्रकार हैं।

(१) अब तक विद्यमान हर एक भौतिकवाद में—जिसमें फ़ॉयेरबाख़ का भौतिकवादी दर्शन भी शामिल है—प्रधान दोष यह है कि उसमें विषय

(वाह्य पदार्थ), वास्तविकता, इन्द्रियगोचरता को मानुषिक इन्द्रिय-गोचर क्रिया-प्रयोग के तौर पर नहीं, बल्कि केवल विषय या चेतना के तौर पर ही ग्रहण किया जाता था। इस तरह ऐसा हुआ कि भौतिकवाद के विरोध में आदर्शवाद ने क्रियावाले पहलू को विकसित किया, लेकिन केवल अमूर्त रूप में, क्योंकि आदेशवाद किसी वास्तविक इन्द्रियगोचर क्रिया को स्वीकार नहीं करता। फ़ॉयेरबाख़ वास्तव को उसके कल्पना-चित्र से विभिन्न रूप में देखता है लेकिन दोनों के सक्रिय सम्बन्ध को वह नहीं देखता। इसलिए 'ख्रीष्ट्रतत्त्व-सार' में वह सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को ही मनुष्य का सही दृष्टिकोण मानता है और प्रयोग को केवल इसके एक निकृष्टरूप के तौर पर। परिणाम-स्वरूप क्रियाशीलता के क्रान्तिकारी महत्त्व को वह ग्रहण नहीं कर सका।

(२) विषयात्मक सत्य को मनुष्य प्राप्त कर सकता है या नहीं यह प्रश्न सैद्धान्तिक नहीं बल्कि व्यावहारिक है। प्रयोग के द्वारा ही मनुष्य सत्यता की जाँच करता है। विचार और क्रिया दोनों एक ही सत्य की दो विपरीत दिशायें हैं।

(३) मनुष्य परिस्थितियों और पारिवारिक पालन-पोषण की उपज है, इसी लिए परिवर्तित मनुष्य किन्हीं और परिस्थितियों और पालन-पोषण की उपज है। भौतिकवादी सिद्धान्त यह भूल जाता है कि परिस्थितियाँ ही केवल मनुष्य को नहीं बदलतीं, मनुष्य भी परिस्थितियों को बदलता है। शिक्षक को स्वयं शिक्षा प्राप्त करनी होती है। फलस्वरूप यह सिद्धान्त समाज को दो भागों में बाँट देता है। एक गुरु और शिक्षक, जहाँ राबर्ट ओएन आदि आसीन हैं और दूसरा जिसमें विद्यार्थी, शिष्य और साधारण मनुष्य है। क्रान्तिकारी प्रयोग ही परिस्थिति तथा मनुष्य की क्रियाशीलता के (एक साथ) परिवर्तन के मूल में हैं।

(४) फ़ॅयेरबाख़ के दर्शन का आरंभ है धार्मिक दुनिया का जन्म, और इस दुनिया का एक कल्पित धार्मिक दुनिया और एक वास्तविक दुनिया में विभाजन। उसकी पुस्तक का तत्त्व है धर्म-जगत् की दुनियाबी

नींव को दिखलाना। लेकिन यह दिखलाने के बाद मुख्य काम बाक़ी रह जाता है। यह सांसारिक उपादान अपने को अपने से ऊपर उठाकर कैसे एक स्वतन्त्र लोक की तरह स्थापित करता है? इसका उत्तर है इस उपादान का आत्म-भेद और आत्म-विरोध। इस विरोध को समझकर ही इसको हटाया जा सकता है और प्रयोग-द्वारा ही इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए जब हम यह पता लगा लेते हैं कि पवित्र (ईसा) परिवार के रहस्य का द्वार है सांसारिक परिवार तब हमको इसी परिवार की आलोचना करनी चाहिए और व्यवहार में इसको परिवर्तित करना चाहिए।

(५) फ़ॉयेरबाख़ अभूर्त विचार से सन्तुष्ट न हो इन्द्रियगोचरता-युक्त चिन्तन में प्रवृत्त होना चाहता है; किन्तु इन्द्रिय-गोचरता को वह एक व्यावहारिक मानवीय इन्द्रियगोचरतायुक्त क्रिया नहीं समझता।

(६) फ़ॅयेरबाख़ धर्त को इसके मानवीय सार के रूप में रखता है। लेकिन यह मानवीय सार प्रत्येक व्यक्ति में निहित मानवता का अमूर्त रूप नहीं है। इसका असली रूप है सामाजिक सम्बन्धों का जोड़।

फ़ॉयेरबाख़, जो इस असली सार की आलोचना नही करता, बाध्य होकर ऐतिहासिक प्रक्रिया से धार्मिक भाव को पृथक् करके देखता है और एक ऐसे व्यक्ति की धारणा करता है जो समाज से बिलकुल पृथक् है और गोया मानवता का एक अमूर्त रूप है।

(७) इसलिए फ़ॉयेरबाख़ यह नही देख पाता कि धार्मिक भावना स्वयं एक सामाजिक उपज है और जिस अमूर्त व्यक्ति का वह विश्लेषण करता है वह समाज की एक विशेष अवस्था का ही व्यक्ति है।

(८) सामाजिक जीवन मुख्यतः व्यावहारिक है। जिन रहस्यों के कारण सिद्धान्त रहस्यमय बनता है उनका भेद मानव-व्यवहार तथा इस व्यवहार को बोधगम्य करने में ही मिलता है।

(९) जो भौतिकवाद ध्यान को अधिक महत्त्व देता है उसके ज्ञान का सर्वोच्च शिखर है समाज के व्यक्ति को अलग अलग इकाई के रूप में

देखना। (इसका अर्थ यह है कि समाज और सामाजिक परिस्थिति से व्यक्ति का विश्लेषण न कर व्यक्तियों की समष्टि से समाज की रूप-रेखा ठहराना। इसमें व्यक्ति प्रथम है और समाज बाद में।)

(१०) पुराने भौतिकवाद का दृष्टिकोण है श्रेणी-विभाजित समाज। नये भौतिकवाद का दृष्टिकोण है मानव-समाज, विशेषकर समाज-वादी समाज।

(११) दार्शनिकों ने आज तक इस दुनिया की केवल व्याख्या की है; हमारा काम है इस दुनिया को परिवर्तित करना।

हिन्दू दर्शन और भौतिकवाद

इस स्थान पर हिन्दू दर्शन का कुछ उल्लेख अनुपयुक्त न होगा। हिन्दू दर्शन-ग्रन्थादि एक ही मत के परिपोषक हैं, ऐसा नहीं है। भौतिकवाद के उल्लेखमात्र से चार्वाक का नाम लोगों को याद आता है। लेकिन चार्वाक से बहुत पहले इसका वर्णन हमको उपनिषदों में मिलता है।

"सृष्टि का मूल क्या है ? आकाश। सब सृष्ट पदार्थ आकाश ही से उत्पन्न होते हैं तथा इसी में विलीन होते हैं।"

"जिसको आकाश कहते हैं वह सब नाम-रूपों का द्योतक है।" (छान्दोग्य उपनिषद)

इसी उपनिषद में ब्रह्म का भी उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि आकाश ब्रह्म नहीं है और यही सृष्टि का भौतिक कारण है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में अग्नि वह स्वयंभू है जिससे भूतमात्र की उत्पत्ति है। यह अग्नि भी ब्रह्म नहीं है।

लेकिन वर्तमान काल में वेदान्त-दर्शन का मायावाद ही जनप्रिय है। यह एक आदर्शवादी दर्शन है जिसके अनुसार निर्विकार निराकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह ब्रह्म हेगेल के निर्विशेष मानस (Absolute Idea) से मिलता-जुलता है। निर्विशेष मानस जैसे विशेष के भीतर

ही विकसित होता है वेदान्त के ब्रह्म की कल्पना भी वैसी ही है। ब्रह्म अपने को विभक्त कर माया के रूप में प्रदर्शित करता है। ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति है वृह धातु से, जिसका अर्थ है वर्द्धित होना। यह वर्द्धित होना और हेगेल के (Becoming) का सादृश्य स्पष्ट है।

मायावादी दर्शन की असंगति को दूर करने के लिए गौड़पाद आदि दार्शनिकों ने ब्रह्म या आत्मा को मूल में रखकर भूत जगत् को उसका फलस्वरूप बतलाया और इस प्रकार सत्य की मर्यादा को अक्षुण्ण रक्खा।

वेदान्त दर्शन का बहूल प्रचार होने पर भी हिन्दू-दर्शन केवलमात्र वेदान्त ही नहीं है। न्याय और मीमांसा दर्शन भी चार्वाक दर्शन की तरह प्रमाण-सांपेक्ष ज्ञान में विश्वास रखते हैं। वौद्ध सौतान्त्रिक और वैभासिक दर्शन भी इसी के अनुरूप है।

वौद्ध-मत स्वयं भारतीय भौतिकवादियों का वैदिक धर्म के विरुद्ध एक विद्रोह है। यह कणाद-कपिल की धाराओं को कायम रखता है। कणाद का परमाणुवाद डिमोक्रिटस् के परमाणुवाद से बहुत मिलता-जुलता है। कपिल की उक्ति है—"केवल विचार का ही अस्तित्व नहीं है क्योंकि वहिर्जगत् का भी हमको सहज प्रत्यय है।" "इसलिए यदि एक का अस्तित्व नहीं है तो दूसरे का भी अस्तित्व नहीं। फिर केवल शून्य ही रह जाता है।" (सांख्य प्रथम खण्ड–सूत्र ४२, ४३) इसके ऊपर विज्ञान-भिक्षु की टीका और भी स्पष्ट है।" विचार ही केवल-मात्र वास्तविकता नहीं है; क्योंकि भूत और विचार दोनों का प्रमाण सहज प्रत्यय है। यदि इस प्रमाण से भूत सिद्ध नहीं है तो विचार भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि दोनों का प्रमाण सहज प्रत्यय है। इस प्रकार केवल शून्य ही रह जाता है।" वौद्ध-दर्शन में सर्वास्तित्ववादिन तथा शून्यवादिन दोनों ही भौतिक-वादी मत की पुष्टि करते हैं। लेकिन निर्वाण को मान लेने के कारण उनका भौतिकवाद अपरिणत रह जाता है। तत्कालीन समाज का अन्तर्विरोध ही इस दार्शनिक अन्तर्विरोध के रूप में प्रकाश पाता है।

योगबल और अलौकिक शक्ति—यहाँ योगादि के विषय में एक शब्द कहना असंगत न होगा। क्या तपस्या, योगक्रिया आदि से मनुष्य अलौकिक कार्य सम्पन्न कर सकता है? जो कुछ पहले कहा जा चुका है उससे उत्तर स्पष्ट है। कदापि नहीं। योग की शास्त्रीय परिभाषाओं से भी इसके ऊपर कुछ प्रकाश पड़ता है। पातञ्जल सूत्र की परिभाषा है—योगश्चित्तवृत्तिरोधः। चित्त की वृत्तियों का निरोध—यह स्वयं ही एक असम्भव क्रिया है; इसलिए एक असम्भव क्रिया से असम्भव फल प्राप्त होता है या नहीं, यह प्रश्न स्वयं ही अपना उत्तर है। गीता की परिभाषा है—योगः कर्मसु कौशलम्। तिलक ने इसी परिभाषा पर ज़ोर दिया है। स्पष्ट ही यह परिभाषा योग को अलौकिक क्षेत्र से उतार कर व्यवहार-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न है। व्यावहारिक अर्थ में ही एक मार्क्सवादी गीता के उस श्लोक की प्रशंसा कर सकता है जिसमें मनुष्य को समदर्शी होने का उपदेश दिया गया है—लाभ और हानि, जय और पराजय, दोनों में ही उसको अविचलित रहने को कहा गया है। लेकिन मार्क्सवाद और गीता की प्रेरणायें भिन्न हैं। गीता की प्रेरणा है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। लेकिन मार्क्स के दर्शन में ईश्वर को फल सौंपने की बात नहीं आती, क्योंकि वह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। ईश्वर में विश्वास से ही अलौकिक शक्ति की कल्पना आती है। जन्मान्तर रहस्य इसी का एक अंग है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर Dialectics of Nature नामक पुस्तक के एक अध्याय में एंगेल्स ने दिया है। प्रेतात्मा बुलानेवालों की कारस्तानियाँ कैसे अदालतों में खुलीं, उन घटनाओं का उल्लेख करते हुए एंगेल्स ने अलौकिक शक्ति की असम्भावनाओं को प्रमाणित किया है।

दार्शनिक और वैज्ञानिक कोष

अँगरेज़ी—हिन्दी

Absolute—निर्विकल्प
Absolute idea—अमूर्त भावना
Abstract—अमूर्त
Abstraction—प्रत्याहार
Accident—आकस्मिक उपाधि
Acid—अम्ल, तेजाब
Active—सक्रिय, क्रियाशील
Aggregate—योग
Allotropy—अनेक रूपत्व
Alternate—एकान्तर
Amorphous—अमणिभ
Analysis—विश्लेषण
Angular—कोनीय
Apparent—व्यक्त, प्रत्यक्ष
Apply—संप्रयोजित करना
Artificial—कृत्रिम
Asymptote—स्पर्शान्तिक
Atom—परमाणु
Atomic weight—परमाणु गुरुत्व, अणुभार
Attraction—आकर्षण
Automatic—आत्मचालित
Average—औसत
Axis—अक्ष
Base—आधार
Body—पिंड
Cause—हेतु (Efficient cause—उत्पादक कारण)
Cell—कोष
Centre—केन्द्र
Centripetal—केन्द्राभिमुखी
Centrifugal force—केन्द्रापसारी
Circle—वृत्त
Common (to both)—उभयनिष्ठ
Circumference—परिधि
Cognition—उपलब्धि
Collapse—अवसाद
Complex process—संकरीकरण
Composition—संयोग
Concept—बोध
Condition—प्रतिबन्ध, शर्त

Consciousness--चेतना
Condensation--घनीकरण
Conduction--वहन धर्म
Conductor (Bad)--कुचालक
Constant--स्थिरांक
Constituent--अवयव
Contact--संस्पर्श
Correspondence--संगति
Crystal--स्फटिक, मणिभ
Cube--घन
Current--धारा
Cycle--चक्र आवर्तन
Data--सामग्री
Degree--कोटि
Density--घनत्व
Dialectics--द्वन्द्वन्याय
Disturbance--विक्षोभ
Dualism--द्वैतवाद
Dynamic--गत्यात्मक
Dynamics--गति-विज्ञान
Eccentric--बिकेन्द्र
Eclecticism--निर्वाचनवाद
Electricity--विद्युत्
Electricity (Positive)--धन विद्युत्
Electromagnetic--विद्युत् चुम्बकीय
Electron--विद्युत् कण
Element--मूलतत्त्व, तत्त्व
Empirical--अनुभवमूलक
Energy--शक्ति
Equilibrium--स्थायी साम्य
Essence--सार
Essential--तात्त्विक
Evolution--विकास
Exact--यथार्थ
Experiment--प्रयोग
Expression--व्यंजन
Extreme--चरम
Fact--तथ्य
Factor--गुणक
Faith--निष्ठा
Fatalism--भाग्यवाद
Final cause--उद्देश्य, हेतु
Form--आकृति, रूप
Formal cause--स्थूल कारण
Fraction--अंश, अपूर्णाङ्क
Friction--घर्षण
Function--कर्म, कार्य, धर्म
Fundamental--मौलिक
Gas--वायवीय पदार्थ
General--सामान्य; व्यापक
Geo-centric--भूमिकेन्द्रीय
Good--हित, शुभ

Gravitation—माध्याकर्षण
Heat—ताप
Horizon—क्षितिज
Hydrogen—उद्जान
Idealism—आदर्शवाद
Identity—समानता
Ideology—भावना-शास्त्र
Image—प्रतिबिम्ब
Inclined—आनत
Inclined plane—आनत धरातल
Inert—जड़
Inertia—जड़त्व
Infinite—अपरिमित
Infinity—अनंत
Infra-red—आलोहित
Inorganic—अचेतन
Instinct—नैसर्गिक बुद्धि
Law—नियम
Liquid—द्रव
Magnet—चुम्बक; Magnetic चुम्बकीय
Mass—वस्तुमान
Material—जड़
Materialism—भौतिकवाद
Matter—पदार्थ
Measure—माप
Mechanical—यान्त्रिक
Mechanics—यंत्रविज्ञान
Metal—धातु
Metaphysics—अतिभौतिकवाद
Mind—मानस
Mineral—खनिज
Molecule—अणु, कण
Monad—शक्त्यणु
Motion—गति
Mysticism—रहस्यवाद
Natural—प्राकृतिक, नैसर्गिक
Negation—प्रतिषेध
Negative—ऋणात्मक
Nihilism—शून्यवाद
Noumena—वास्तविक रूप
Nucleus—कोषकेन्द्र
Object—पदार्थ, वस्तु
Objective—विषयात्मक
Optics—प्रकाश-विज्ञान
Order—क्रम
Organic—जैविक
Oxygen—प्राणवायु
Parallel—समानान्तर
Particle—कण
Perception—प्रतीति, उपलब्धि
Periodic Table—आवर्तकोष्टक
Phenomenon—घटना, दृश्य

Physics—पदार्थ-विज्ञान
Pole—ध्रुव, टोंक
Positive—भावसूचक
Pragmatism—प्रयोजनवाद
Pressure—दाब
Process—प्रक्रिया
Pyramid—सूचीस्तम्भ
Quality—गुण
Quantity—परिमाण
Rarefaction—विरलीकरण
Ratio—अनुपात
Reflection—परावर्तन
Refraction—शंकवीयवर्तन
Relative—सापेक्षिक
Relativity—सापेक्षावाद
Representation—प्रतिनिधित्व
Sceptic—शंकावादी
Scholasticism—संप्रदायवाद
Sensationalism—इंद्रियवाद, इंद्रियानुभूतिवाद
Size—आकार, विस्तार
Sophist—वितण्डावादी
Speed—चाल, रफ़्तार
Square root—वर्गमूल
State—अवस्था
Statistics—गणनाशास्त्र
Subjective—आत्मगत
Substance—पदार्थ
Symbol—संकेत
Symmetry—सममित
Synthesis—संश्लेषण; समन्वित-वाद
System—पद्धति, प्रणाली
Table—सारिणी (Periodic—Table—आवृत्ति सारिणी)
Theology—धर्म-विद्या
Theory—सिद्धान्त
Thesis—वाद Anti-thesis—प्रतिवाद)
Transcendentalism—अनु-भवातीतवाद
Unit—एकांक, इकाई
Universal—सार्वदेशी; सार्व-भौमिक
Volume—आयतन
Wave—तरंग
Weight—भार
Will power—इच्छा-शक्ति

———

पुस्तक सूची

जिन पुस्तकों की सहायता से मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है उनकी सूची नीचे दी जा रही है। अधिकांश पुस्तकें अँगरेजी ही में हैं।

Dialectical Materialism—David Guest

Anti Dühring—F. Engels.

Early writings of Karl Marx

Capital—Karl Marx

Dialectics—Jackson

Dialectical Materialism—Adoratsky

Historical and Dialectical Materialism—Stalin

समाजवाद—बाबू सम्पूर्णानन्द

Philosophy for a modern man—Levy

Essays in Materialism—Plekhanov

Fundamental Problems of Marxism—Plekhanov

Materialism—M. N. Roy

Republic—Plato

Introduction to Philosophy—Lewis

Outline of Modern Knowledge

Great Philosophies of the World—Joad

Ludwig Feuerbach—Engels

Dialectics of Nature—Engels

Materialism and Empirio-criticism—Lenin

Marxiya Darshan—(Bengali)